1.4

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्री वादिभीकर महागुरवे नमः ॥

भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य प्रणीत

हिन्दी श्रीभाष्य

द्वितीय भाग

सम्पादक

जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र

स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष श्री हनुमत् सं० महाविद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति २०००

मूल्य ३-०० डाक व्यय अतिरिक्त

गंगा दशहरा २०३४ वि० सं०

॥ समर्पण ॥

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापना चार्योभय वेदान्त
प्रवर्तकाचार्य, सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु
भगवदनन्तपादीय

श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिन् !

परमाचार्य,

आपकी ही कृपा समृद्धि से जन्य अनेक श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की
माला से श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत करने का
साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ कि
श्रीमान् अपनी वस्तु के इस
नव परिवेश के प्रेक्षणजन्य
अमन्दानन्द सन्दोह
का अनुभव
करेंगे ।

श्रीचरण परागलिप्सु
श्रीधराचार्य
(शिवप्रसाद द्विवेदी)

विषय – सूची

❀ उपयुक्त प्रस्तुति ❀

विष्वक्सेन यतीन्द्राणां वेदान्तार्थप्रबोधिकाः ।
जयन्ति पादपद्मानां रेणवः कामधेनवः ।।

प्रस्तुत भाग का उपक्रम महापूर्वपक्ष से होता है। श्रीभाष्य का 'जिज्ञासाधिकरण' और उसका 'महापूर्वपक्ष' अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश हैं। महर्षि बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र का 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यह प्रथम सूत्र है। इस सूत्र में तीन पद हैं 'अथ' 'अतः' और 'ब्रह्मजिज्ञासा'। 'अथ' शब्द के अर्थ के विषय में विचारकों में ऐकमत्य है। सब लोग यह मानते हैं कि 'अथ' शब्द आनन्तर्य का वाचक है।

'अतः' शब्द के अर्थ के विषय में दार्शनिकों में विवाद है भी और नहीं भी है। क्योंकि 'अतः' शब्द ब्रह्मजिज्ञासा के कारण का वाचक है; यह सब लोग मानते हैं; किन्तु ब्रह्मजिज्ञासा का कारण क्या है ? इसके विषय में विचारकों के परस्पर विरोधी मत हैं। 'अतः' शब्द का अर्थ करते हुए कुछ लोगों का कहना है कि चूँकि यह सूत्र पूर्वमीमांसा के अव्यवहितोत्तर क्षण में पढ़ा गया है: अतएव अतः पद पूर्व मीमांसा प्रतिपाद्य कर्म ज्ञान की कारणता की सूचना देता है। इसका खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है कि—ब्रह्म जिज्ञासा का पूर्वभावी (पूर्ववृत्त) कर्म विचार नहीं हो सकता है। क्योंकि—

[१] ब्रह्म सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय आत्मैकत्वविज्ञान है और वह तब ही सम्भव है जब कि प्रपञ्चभ्रम का नाश हो जाय। कर्मज्ञान भेदमूलक हैं अतएव उससे तो भेदभ्रम की वृद्धि ही सम्भव है। आत्मैकत्व विज्ञानोदय में उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता है। अतएव कर्म ज्ञान का ब्रह्म विचार का पूर्वभावित्व सम्भव नहीं है।

[२] कर्मों का फल अनित्य होता है और ब्रह्मविज्ञान का फल नित्य होता है यह 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि वाक्य बतलाते हैं—अतः स्वभाव विरोध के भी कारण कर्म विज्ञान ब्रह्मविज्ञान का कारण नहीं हो सकता है।

[३] जहाँ कहीं भी उद्‌गीथ आदि कर्माङ्गक विद्याओं का विचार उपनिषदों में किया गया है वह इसलिए कि वे कर्मों के शेषभूत हैं, अतः प्रसङ्गतः उनका भी वेदान्तों में विचार कर लिया जाता है, कर्म विचार की ब्रह्म विचार में साक्षात् सगति नहीं है, अतएव उसकी पूर्ववृत्तता ब्रह्मविचार में नहीं स्वीकार की जा सकती है। क्योंकि किसी का पूर्वभावी वही होता है जो नियमतः अपेक्षित होता है।

[४] सबसे बड़ी बात यह कि मुक्ति तत्त्वमस्यादि वाक्याध्ययन जन्य ज्ञान सापेक्ष है, और तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अर्थ विचार अनधीत कर्म विचार व्यक्ति भी कर सकता है; अतएव कर्म विचार ब्रह्म विचार का पूर्ववृत्त नहीं हो सकता है।

[५] अतएव ब्रह्मविचार का पूर्व वृत्त– १–नित्यानित्य वस्तुविवेक।

२–इहामुत्रार्थ फल भोग विराग। ३–शमदमादि साधन सम्पत्ति तथा ४–मुमुक्षुत्वरूप साधन चतुष्टयं है। इन सारी बातों का संग्रह श्रीभाष्य के लघु पूर्वपक्ष में किया गया है।

अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त सभी तर्कों का खण्डन श्रीभाष्य के लघु सिद्धान्त प्रघट्ट में निम्न प्रकार से किया गया है।

१–अद्वैती विद्वान् जिस साधन चतुटष्य को ब्रह्मविचार का पूर्ववृत्त मानते हैं वह तो ब्रह्म विचार रूप वेदान्ताध्ययन का फल हो सकता है। क्योंकि वेदान्तों का अध्ययन किये विना कैसे जाना जा सकता है कि ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् मिथ्या होने के कारण अनित्य है ? यह तो वेदान्ताध्ययन के पश्चात् ही जाना जा सकता है कि–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और नित्यानित्य वस्तु विवेक होने पर ही स्वानुष्ठित कर्मों के फलस्वरूप ऐहिकामुष्मिकफलभोगविराग की प्राप्ति सम्भव है। किञ्च कर्मों के वास्तविक रूप का ज्ञान हुए विना मोक्षेच्छा सम्भव नहीं और नतो तदर्थं शमदमादि साधनषट्क का वरण ही सम्भव है। अतएव साधन चतुष्टय को ब्रह्मविचार का पूर्ववृत्त नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वे तो ब्रह्मविचार के उत्तराङ्ग हैं; पूर्वाङ्ग नहीं।

२–अद्वैती विद्वान् ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं किन्तु उस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसका विचार भी यहाँ अनपेक्षित न होगा। क्या वह केवल तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अध्ययन से जन्य ज्ञान मात्र है, अथवा वह उपासनात्मक ज्ञान है ? ज्ञान मात्र तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि उसके विधान की आवश्यकता ही नहीं थी, वह तो रागतः ही प्राप्त है, और

वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से किसी की मुक्ति देखी भी नहीं जाती है। ज्ञान मात्र के मुक्ति के साधनत्व का खण्डन करते हुए महर्षि आपस्तम्ब भी कहते हैं—यदि ज्ञान मात्र से ही किसी को मुक्ति मिल जाती तो फिर संसार में ही दुःखोपलब्धि नहीं होती 'बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणमिहैव न 'दुखमुपलभेत' (२-९-२१-१६) अतएव ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन नहीं माना जा सकता है। किञ्च ज्ञान की मोक्ष साधनता का निषेध शास्त्रों में किया गया है—'बुद्धे क्षेमप्रापणम् (२-९-२१-१४) 'तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्' (२-९-२१-१५) अतएव उपासनात्मक ज्ञान को ही ज्ञान का साधन मानना चाहिये। किञ्च—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' 'अनुविद्य विजानाति' 'निचाय्यतं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' आदि श्रुतियाँ ज्ञान का अनुवाद करके ध्यान एवं उपासना का ही मुक्ति की साधकतमता का विधान करती हैं। और उद्गीथादि उपासनाओं के कर्माङ्गाश्रय होने के कारण कर्मों की जानकारी अपेक्षित है। अतः कर्मविचार को ही ब्रह्म विचार का पूर्ववृत्त मानना चाहिये।

३—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि कर्म विचार की वेदान्तों में प्रसंगतः संगति है, साक्षात् संगति नहीं; उनका यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रसंगात् संगति वहाँ मानी जाती है जहाँ पर प्रधानोंपयोगी न होने पर भी सादृश्य आदि के कारण वस्तु बुद्धिस्थ हो जाय। "प्रधानानुपयोगित्वेन सादृश्यादिना धीस्थत्वं प्रसङ्गात् संगतिः" किन्तु जहाँ पर अन्यतरापेक्षा अथवा उभयापेक्षा के कारण वस्तु बुद्धिस्थ हो वहाँ पर वस्तु की साक्षात् संगति मानी है। उद्गीथादि उपासनाएँ ब्रह्म दृष्टि रूप होने के कारण उभयापेक्षिणी हैं।

अतएव उनकी तो साक्षात् संगति ही माननी चाहिये। कहने का आशय यह है कि अब्रह्म में ब्रह्म की दृष्टि को ब्रह्म दृष्टि कहा जाता है, उद्गीथ आदि उपासनाएं ब्रह्म दृष्टि रूप हैं अतएव उनको ब्रह्म की अपेक्षा है ही। किञ्च "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" में ब्रह्म सम्बन्धी सारी वस्तुओं की जिज्ञासा की प्रतीज्ञा की गयी है। अतएव ब्रह्म ज्ञान को भी उद्गीथादि उपासनाओं की अपेक्षा है। उद्गीथादि उपासनाएँ उभय सापेक्ष होने से वेदान्त विचारों में साक्षात् संगत हैं। इस अर्थ की सूचना श्री भाष्यकार ने 'सुतरां सगतानि' पदों के द्वारा दिया है। और उद्गीथादि उपासनाओं के कर्म सापेक्ष होने से कर्म ज्ञान को ब्रह्मविचार का पूर्ववृत्त मानना चाहिये।

४—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि कर्म विचार एवं ब्रह्मविचार में स्वभाव का विरोध है तो यह उनकी भूल है, क्योंकि कर्मविचार ब्रह्मविचार का साधकतम है, यह 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इत्यादि श्रुति विविध कर्मों को ब्रह्म विचार की साधकतमता बतलाती हैं।

५—अद्वैती विद्वानों ने जो शारीरिक शास्त्र का प्रतिपाद्य आत्मैकत्व विज्ञान माना है, उसके विषय में हमें पूछना है कि उस आत्मैकत्व का स्वरूप क्या है? क्या वह परमात्मा एवं आत्माओं के स्वरूप का भेदाभाव रूप है? अथवा आत्मा एवं परमात्मा के स्वभाव की एकता है? स्वरूप के भेद का अभाव तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः

नदायतना:' 'प्रशामितारं सर्वेषाम्' 'अधिकं तु भेद निर्देशात्' इत्यादि प्रमाणों से विरोध होगा। ये सभी प्रमाणवाक्य परमात्मा को जीवों के अपेक्षा महान् नियामक, सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमितोपादान कारण इत्यादि रूप से बतलाते हैं। स्वभाव की एकता के विषय में ज्ञान स्वरूप तो हम भी सभी आत्माओं एवं परमात्मा को मानते हैं। और कर्मज्ञान हुए बिना ब्रह्म विचार में इसलिए नहीं प्रवृत्ति हो सकती है कि कर्मज्ञान का फल अनित्य जानकर ही मुमुक्षु ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होता है। और उस परमात्मा की उपासना रूप ज्ञान को अपनाकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। अतएव कर्म विचार को ही ब्रह्म विचार का पूर्ववृत्त मानना चाहिये। निगमन तर्क प्रणाली Logic के अनुसार अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा सूत्र में अत: पद लघुपद (minor term) है और ब्रह्म-जिज्ञासा पद वृहत् पद (major term) है चूंकि अद्वैत दर्शन प्रमाण की अपेक्षा तर्क को अधिक महत्त्व देता है। अतएव अत: पद सम्बन्धी समस्त विचारों का संग्रह लघुपूर्व पक्ष एवं लघु सिद्धान्त पक्ष में किया गया है। ब्रह्म जिज्ञासा पद सम्बन्धी विचारों का संकलन श्री भाष्यकार ने महापूर्व पक्ष में तथा 'महासिद्धान्त पक्ष' में किया है।

श्री भाष्य के महापूर्व पक्ष में ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुए अद्वैती विद्वानों के विचारों का अनुवाद किया गया है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म अशेष विशेष प्रत्यनीक एवं ज्ञानमात्र है। तद्-व्यतिरिक्त सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या है अतएव वह उसी ब्रह्म में कल्पित है। जिस तरह रस्सी में सर्पादि का अध्यास होता है, उसी

तरह ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। मिथ्यात्व को लक्षित करते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है कि जिसकी पहले तो प्रतीति तो हो किन्तु वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जो बाधित हो जाय उसे मिथ्या कहते हैं—"प्रतीयमानत्व पूर्वक यथावस्थितवस्तुज्ञान-निवर्त्यत्वम्" जैसे अन्धकार आदि दोषों के कारण पहले तो सर्पादि की प्रतीति होती है किन्तु जब रस्सी के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो फिर वहाँ सर्प की प्रतीति बाधित हो जाती है; अतएव रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प अन्धकार आदि दोष के कारण कल्पित होता है उसी तरह अविद्या के कारण ब्रह्म में जगत् कल्पित होता है। उस अविद्या की दो शक्तियाँ होती है आवरण और विक्षेप। अविद्या अपनी आवरण शक्ति के द्वारा वस्तु के स्वरूप को तिरोहित कर देती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा वह वहाँ पर वस्त्वन्तर की प्रतीति करा देती है। उस अविद्या की निवृत्ति तब होती है जब कि आत्मैकत्व विज्ञान हो जाय।

अद्वैती विद्वानों का कहना है कि जगत् (प्रपञ्च) ब्रह्म का विवर्त और अविद्या का परिणाम है। कहने का आशय यह है कि—वस्तुओं का अन्यथा भाव दो प्रकार से होता है। परिणाम और विवर्त जिस प्रतीति में वस्तु स्वयं भी बनी रहे तथा उसका समान मात्रा में परिवर्तित रूप प्रतीत हो उसे उसका परिणाम कहते हैं। वस्तु का वह अन्यथा भाव जिसमें वस्तु स्वयं न रहे तथा उसकी प्रतीति उसकी न्यूनाधिक रूप में हो उसे उसका विवर्त कहते हैं। जगत् अविद्या का परिणाम

इसलिए हैं कि स्वयं वह अविद्या रूप है, तथा उसकी समान मात्रा में है। जगत् ब्रह्म स्वरूप न तो है और न तो उसकी समान मात्रा में ही है, अतएव वह ब्रह्म का विवर्त है। क्योंकि ब्रह्म एक है और जगत् विविध।

अद्वैती विद्वानों का यह ब्रह्म सम्बन्धी विचार पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा (Spinoza) के विचारों से मिलता जुलता सा है। वह भी ब्रह्म को ही एक मात्र द्रव्य मानते हुए कहता है—

A Substance is that which is in itself and concieved theough itself, that is the existenc of which does not involve the existence of anything else.

आर्थात् द्रव्य वह है जो आत्मनिहित हो और जिसकी भावना करने में भी किसी अन्य भावना की आवश्यकता न हो। वह ब्रह्म को शुद्धसत्ता (Pure being) आत्मनिर्भर (Self dependent) स्वयम्भू (Self caused) स्वतन्त्रकारण (Free couse) एक अनन्त (Infinite) एवं शाश्वत (Eternal) मानता है। वह यह भी मानता है कि Every Particular determination is negation.' अर्थात् प्रत्येक गुणारोपण एक निषेध है। यह भी सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानता है। अद्वैती विद्वानों के समान वह भी आत्मैकत्व विज्ञान की वरीयता देते हुए कहता है कि जब हमें शुद्ध सत्ता (Pure existense consciousnees and order)

का दर्शन होता है तब विकारों का विश्व (भेद दर्शन) मिट जाता है। है और केवल अंशी (Wholesubstnse) अवशिष्ट रह जाता है। Hegel हेगेल स्पीनोजा के ईश्वर की आलोचना करते हुए कहते हैं— "Spinoza's absolute is a lions den to which all footprints point. but from which none retwns." अर्थात् स्पीनोजा का ईश्वर वह सिंह की मांद है जिसमें सारी चीजें तिरोहित हो जाती हैं और उससे कोई भी चीज यथार्थ रूप से निकलती नहीं नजर आती।

अद्वैती विद्वानों का कहना है कि प्रपञ्च वैविध्य अप्रामाणिक एवं मिथ्या है। जहां पर प्रत्यक्ष से विरोध होता है वहाँ पर शास्त्रों की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। शास्त्रों में भी सगुणो वाक्यों की अपेक्षा निर्गुण वाक्यों की प्रामाणिकता अपच्छेद न्याय से सिद्ध होती है। वे ज्ञान मात्र को ही आत्मा एवं परमात्मा मानते हैं। ज्ञान,सत्ता अनुभूति, संवित् उनके मत में ये सभी समानार्थक शब्द हैं। ये संवित् को नित्य एक निर्धर्मक एवं स्वयं प्रकाश मानते हैं।

मीमांसक विद्वान ज्ञान को अनुमेय मानते है। उनका कहना है कि जब हम किसी पदार्थ का साक्षात्कार करतें है तो उस वस्तु में एक प्रकाशता या प्राकट्य नामक धर्म उत्पन्न हो जाता है, जिसको देखकर हम अपने ज्ञान का अनुमान करते है, मीमांसकों के इस कथन का खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि ज्ञान को स्वयं प्रकाश इस लिये मानना चाहिये कि वह अपने सम्बन्ध मात्र से वस्त्वन्तर में

ज्ञानत्व के संवन्ध तथा व्यवहार का कारण होता है। जो अपने संवन्ध मात्र से स्वेतर वस्त्वन्तर में किसी संवन्ध एवं व्यवहार का कारण वनता है वह उस विषय में स्वाधीन माना जाता है। जैसे रूप अपने संवन्ध मात्र से पृथिवी आदि में चाक्षुपत्व धर्म एवं व्यवहार का कारण वनता है, अतएव वह अपने चाक्षुपत्व के विषय में स्वाधीन है। इसी तरह ज्ञान का भी जिस वस्तु से संवन्ध होता है वह उसके प्रकाशत्व धर्म एवं व्यवहार का कारण वन जाता है तथा उसे प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशक निरपेक्ष होकर प्रकाशित हुआ करता है।

अद्वैती विद्वानों का कहना है कि उस संवित् का ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। तदर्थ ही सम्पूर्ण वेदान्त उपक्रान्त होते हैं। अतएव कर्म विचार जो भेद मूलक है वह ब्रह्म विचारों का पूर्वभावी नहीं माना जा सकता है।

अतएव वृहत् पद ब्रह्म जिज्ञासा की दृष्टि से भी कर्म विचार को अतः पदार्थ नहीं मान जा सकता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूत्र के अतः पद एवं ब्रह्म जिज्ञासा पद को ही दृष्टि पथ में रखकर लघुपूर्व पक्ष एवं महापूर्वपक्ष की संरचना की गयी है। [Logic] की दृष्टि से ब्रह्म जिज्ञासा पद का विचार महापूर्वपक्ष में करना उपयुक्ततम है।

श्रीभाष्य के महापूर्वपक्ष की पदशः आलोचना जिज्ञासाधिकरण के महा सिद्धान्त पक्ष में की गई है, जिसे मेरे पाठक 'हिन्दी श्रीभाष्य' के तृतीय भाग में पढ़ेंगे। तृतीय भाग की भूमिका जो 'वस्तु याथात्य,

के नाम से संग्रथित है, वह अपने प्राच्य एवं प्रतीच्य विचार वैशद्य के द्वारा आपका अत्यधिक मनः प्रह्लादन करेगी, यह हमें पूर्ण विश्वास है। हिन्दी श्री भाष्य का प्रकाशन पैंतिस लघुकाय भागों में करने के लिए निश्चय किया गया है। इसके ग्राहक भी बनाने का कार्यक्रम रखा गया है। जो महानुभाव १०१ रुपये एक ही बार देकर हमें अनुगृहीत करते हैं, हम उन्हें अपना ग्राहक एवं उपकारक मानते हैं। आप १०१ रुपये भेज-कर अपने ग्राहकत्व की स्वीकृति प्रदान करें। हम अपने तृतीय खण्ड में अपने संरक्षक, उपजीव्य, उपकारक आदि महानुभावों की नामावली भी प्रकाशित करने जा रहे हैं।

हमें विश्वास है कि आप मानव सुलभ त्रुटियों के लिए हमें क्षमा करेंगे।

भवदीय—

शिवप्रसाद द्विवेदी

(श्रीधराचार्य)

श्यामसदन, कटरा, अयोध्या।



श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर चरित्रवन, बक्सर

श्रीपतिषष्ठपीठाधीश्वर



श्री १००८ श्रीमज्जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय विष्वक्सेनाचार्य
त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज



श्रीरस्तु

श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

द्वितीय भाग

महापूर्व पक्षः

सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य ज्ञानमात्र ब्रह्म है

मूल—यदप्याहुः—अशेष विशेष प्रत्यनीक चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः; तदतिरेकि नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृत ज्ञान भेदादि सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्या भूतम्; 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्य मगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १।१।५६) 'सत्यं ज्ञानमनंतंब्रह्म' (तै०२।१।१) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) 'यस्यामतं तस्यमतं मतं

यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम-विजानताम् ।' (के०उ०२।२) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ०२।४।५) 'नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ०४।४।१९) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर-मितरं पश्यति । यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं विजानीयात् । (बृ०२।४।१४) वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । (छा०६।१।४) यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।' (तै०२।७।१) 'न स्थानतोऽपि परस्योभयालिङ्गं सर्वत्र हि' (ब्र.सू.३।२।११) मायामात्रंतु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त.स्वरूपत्वात्'' (ब्र०सू०३।२।३)

अनुवाद

साकेते कटरापथे सुललिते दक्षे सरय्वास्तटे
भव्ये नव्य सुकोशलेश सदने शान्ता कृतिं सुन्दरम्
दिव्यं तं विबुधेश्वरार्चित पदं कोदण्ड पाणि प्रभुम्
सीतालक्ष्मणवातजात सहितं श्रीरामचन्द्रं भजे ॥

श्रुतिकिरीट सदर्थ प्रदर्शकौ,
यतिवरौ मम मानसहंसकौ ।
विष्वगार्य सुलक्ष्मणयोगिनौ
जनिमतामवनौ जयतां भुवि ॥

महापूर्व पक्ष का अनुवाद करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि अद्वैती विद्वानों ने) यह जो कहा है।

अद्वैती—(सजातीय विजातीय एवं स्वगत इन) सभी विशेषों को अपने ज्ञान मात्र के द्वारा निवर्तित करने वाला ज्ञानमात्र ब्रह्म ही परमार्थ (तत्त्वावेदक प्रमणों का विषय) है। उस ज्ञानमात्र ब्रह्म को छोड़कर अनेक प्रकार के ज्ञाता ज्ञेय तज्जन्य ज्ञातृत्वाछिन्न, ज्ञेयत्वाव-च्छिन्न आदि वृत्ति ज्ञान के अनेक भेद आदि (जन्म, जरा, मरण आदि) सम्पूर्णप्रपञ्च उसी (अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म) में ही परिकल्पित होने के कारण मिथ्या है। (इस कथन की पुष्टि निम्न प्रमाणों से भी होती हैं; वे हैं–) "हे (सौम्य) ! सोमार्ह ! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य सत् रूप ही था।" (यह श्रुति षड्विध तात्पर्य लिङ्गोपेत पुरोवादिनी श्रुति है।] "इसके पश्चात् पराविद्या का वर्णन किया जाता है जिसके द्वारा प्रसिद्ध अक्षर तत्त्व (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है। वह अक्षर तत्त्व अद्रेश्य (चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अविषय) अगोत्र एवं अवर्ण (नाम रूपविभागानर्ह) नेत्र, कर्ण, आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा पाणि पाद आदि कर्मेन्द्रियों से रहित है। वह (कालानवच्छिन्न होने के कारण) नित्य, (देशानवच्छिन्न होने के कारण) व्यापक, (वस्तुपरिच्छेद रहित होने से सर्वगत एवं अत्यन्त सूक्ष्म है; वह विकार रहित है जिसे ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण जगत् के कारण रूप से देखते हैं। "वह ब्रह्म सत्य (अनृतप्रत्यनीक) ज्ञान (जड़ प्रत्यनीक) एवं अनन्त (देश काल वस्तु के परिच्छेद से

रहित) स्वरूप है ।" "वह ब्रह्म निष्कल (अवयव रहित) क्रिया रहित, षडूर्मि रहति (शान्त) कर्म एवं उसके फल के सम्बन्ध से रहित है।" (यहाँ तक की श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म को ज्ञानमात्र एवं अशेष विशेष प्रत्यनीक बतलाने में हैं । "जिसको यह निश्चय है कि ब्रह्म प्रमाणादि का विषय नहीं उसने ही ब्रह्म को जाना हैं, और जो ब्रह्म को प्रमाणादि का विषय मानता है वह ब्रह्म का स्वरूप नहीं जानता । विशेषज्ञ ब्रह्म के स्वरूप को ज्ञानादिका विषय नहीं मानते अजानकार ही उसे विज्ञान (ज्ञानादि) का विषय मानते हैं । (ये सभी श्रुतियाँ ब्रह्म में ज्ञेयत्व का निषेध करती हैं ।) दृष्टि मति आदि शब्दों से उपलक्षित ज्ञानमात्र ब्रह्मव्यतिरिक्त द्रष्टा और मननकर्ता को मत देखो । (अतएव ब्रह्म में ज्ञातृत्व आदि धर्म नहीं हैं ।) "ब्रह्म आनन्द स्वरूप है ।" (अतएव ब्रह्म को आनन्दवान् नहीं कहा जा सकता है । (निम्न श्रुतियों से यह बतलाया जा रहा है कि ब्रह्मव्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है।) "यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च (ब्रह्म में ही अध्यस्त होने के कारण आत्म स्वरूप ही है" इस जगत् में भेद नाम की वस्तु) कोई है ही नहीं। जगत में ब्रह्मव्यतिरिक्त दृष्टि करने वाला घोरतर अन्धकार में फँसता जाता है। (क्योंकि अध्यस्त होने के कारण भेद मिथ्या है।) जब मिथ्या भूत भेद की प्रतीति होती है; उस समय भिन्न पुरुष अपने से भिन्न साधन के द्वारा भिन्न को देखता है ।" (भ्रान्ति समाप्त हो जाने पर) जब उसके लिये सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है तो कौन किस साधन से किसको देखे ?" घटादितंस्थानरूप विकार और उनके नाम वागालम्बन मात्र (मिथ्या) हैं (उनका कारणभूत) मृतिका ही सत्य

है।' जब अधिकारी जगत् और ब्रह्म में थोड़ी सी भी भेद बुद्धि करता है तो उसे संसार का भय होता है।" [इस अर्थ का प्रतिपादन निम्न दो ब्रह्म सूत्र भी करते हैं। वे हैं—सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म के साकारत्व एवं साकारनिराकारस्वरूप उभयलिङ्ग नहीं हैं।" [स्वप्न में देखे गये विषयों के ही समान जागतिक पदार्थमिथ्य है इस बात को दृष्यन्त के द्वारा अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं]—स्वाप्निक सभी पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि उनका स्वरूप बाधित होता है।"

टिप्पणी

सदेव सोम्येदमित्यादिः—अद्वैती विद्वान्, अपने कथ्य की पुष्टि के लिये इस वाक्य को सर्व प्रथम इसलिए उपस्थित करते हैं कि यह श्रुति तात्पर्य के निर्णायक [१] उपक्रम उपसंहार [२] अभ्यास [३] अपूर्वता [४] फल [५] अर्थवाद और [६] उपपत्ति इन छह लिङ्गों से युक्त है। साथ ही सद्विद्या का बतलाने वाली यह श्रुति पुरोवादिनी श्रुति है। इसको छोड़कर दूसरी श्रुतियां अनुवादिनी मानी जाती हैं। अतएव सभी श्रुतियों का अर्थ इसी के अनुसार करना चाहिये। तीसरी बात यह कि इस श्रुति के विभिन्न पदों से सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य ब्रह्म की सिद्धि होती है। सदेव—इत्यादि श्रुति की व्याख्या करते हुए श्रुत प्रकाशिकाकार का कहना है—अद्वैती विद्वानों को इस श्रुति के 'सदेव' पद से ब्रह्म में विजातीय भेद का निरास, एकमेव पद से सजातीय भेद का निरास और अद्वितीयम् पद से स्वगत वेद का निरास

अभिप्रेत है । शांकर भाष्य के कल्पतरु टीका में कहा गया है कि सदेव पद से सृष्टि के पूर्व नाम रूपादि की व्यावृत्ति की गयी है । एकमेव पद का अभिप्राय है कि महदादि स्वकार्यान्तर्गत नहीं हैं:- और अद्वितीयम् पद से निमित्तान्तर का वरण किया गया है ।

इदं सर्वं यद्यमित्यादि:-यह सामानाधिकरण्य वाक्य है । इस वाक्य में अधिष्ठान ब्रह्म के साथ अध्यस्त का सामानाधिकरण्य उसके वाध के मिए दिखलाया गया हैं । अद्वैत सिद्धान्त में चार तरह का सामानाधिकरण्य अभिप्रेत हैं- [१] अध्यास में सामानाधिकारण्य, [२] अपवाद में सामानाधिकरण्य [२] विशेपण विशेष्य भाव में सामानाधिकरण्य तथा [४] ऐक्य में सामानाधिकरण्य । नाम ब्रह्मेत्युपासीत यह अध्यास में सामानाधिकरण्य का उदाहरण है । 'यद्रजतमाभात् सा शुक्तिः' यह अपवाद में सामानाधिकरण्य का उदाहरण है । इसी को बाधार्थ सामानाधिकरण्य भी कहते हैं । नोलमुत्पलम् आदि में विशेपण विशेष्य भावमे सामानाधिकरण्य है । 'कोकिल: पिक:' में ऐक्य में सामानाधिकरण्य है ।

प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥(वि०पु०६।७।७३)
ज्ञानस्वरूपमत्यन्त निर्मलं परमर्थतः ।
तमेवार्थ स्वरूपेण भ्रान्ति दर्शनतः स्थितम् ॥ (वि०पु०१।२।६)
परमार्थस्त्वमेवैको नान्योस्ति जगतः पते । (वि०पु०१।४।३८)

यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ।(वि०पु० १।४।३६)
ज्ञानस्वरूप मखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोह सम्प्लवे ॥ ४० ॥
येतु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥ ४१ ॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् ।
विज्ञानं परमार्थों हि द्वैतिनोऽतथ्य दर्शिनः ॥
यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिव सत्तम ।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥ (२।१३।६०)
वेणुरन्ध्र विभेदेन भेदः षड्जादि संज्ञितः ।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथासौ परमात्मनः ॥
सोऽहं सचत्वं सच सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ।
इतीरितस्तेन सराजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थ दृष्टिः ।(२।१६।२४)
विभेद जनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥ (६।७।६४)
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः । (गी० १०।२०)
क्षेत्रज्ञं चापिमां विद्धि सर्व क्षेत्रेषुभारत । (गी० १३।२)

न तदस्ति विना यत्स्यात् मयाभूतं चराचरम । (गी० १०।३९)

इत्यादिभिर्वस्तु स्वरूपोपदेशपरैः शास्त्रैर्निर्विशेष चिन्मात्रंब्रह्मैव सत्यमन्यत् सर्वं मिथ्येत्यभिधानात् ।

अनुवादः—'सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य सत्तामात्र, वाणी का अविषय तथा अनुभवैकगम्य ब्रह्मज्ञान है ।' 'जो परमार्थतः ज्ञानस्वरूप, सभी विशेषों से रहित है किन्तु अज्ञान के कारण अनेक प्रकार के जड़ पदार्थ रूप से प्रतीत होता है, उस ब्रह्म को नमस्कार है ।' (इस श्लोक से जगत् को भ्रान्ति सिद्ध होने से मिथ्या बतलाया गया हैं ।) 'जो कुछ भी मूर्तिमान् जगत् दिखायी देता है, वह ज्ञान स्वरूप आपका ही रूप है, अजितेन्द्रिय लोग भ्रम से उसे जगत् रूप से देखते हैं । इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत् को बुद्धिहीन लोग अर्थ [भोग्य विषय] रूप से देखते हैं अतः वे निरन्तर मोहमय ससार सागर में भटका करते हैं । हे परमेश्वर ! जो लोग शुद्धचित्त वाले और विज्ञानवेत्ता हैं; वे सम्पूर्ण जगत् को आपके ज्ञानात्मक स्वरूप में देखते हैं ।" [इन तीनों श्लोकों से ज्ञान को सत्य और जड़ जगत् को मिथ्या बतलाया गया है ।] "राजवर्य ! यदि मुझसे भिन्न कोई दूसरा भी होता तो मैं यह हूँ और यह मुझसे भिन्न है इस तरह का व्यवहार हो सकता था ।" "जिस तरह अभिन्न रूप से व्याप्त एक ही वायु के बाँसुरी के छिद्र के भेद से षड्ज आदि भेद होते हैं उसी तरह शरीर आदि उपाधियों के भेद के कारण एक ही आत्मा के [देव, दानव, मानव आदि] अनेक भेद

प्रतीत होते हैं।" 'मैं, तू और ये सब आत्मस्वरूप ही हैं ? अतएव भेद ज्ञान रूपी मोह को छोड़ दो । [श्री पराशर जी कहते हैं कि] उनके [जड़ भरत के] ऐसा कहने पर सौवीरराज ने परमार्थ दृष्टि का आश्रय लेकर भेद बुद्धि का त्याग कर दिया ।" भेदोत्पादक अज्ञान के सर्वथा नष्ट होजाने पर आत्मा और परमात्मा में विद्यमान भेद को कौन बना सकता है ?" [गीता में भी आत्मा और परमात्मा की एकता बतलायी गयी हैं] "हे अर्जुन ! सभी शरीरों के भीतर उनकी आत्मा रूप से मैं स्थित हूं ।" 'हे अर्जुन ! सभी शरीरों के भीतर रहने वाली आत्मा भी मुझे ही मानो ।" "जगत का कोई भी चर अचर शरीर ऐसा नहीं है जो मुझसे व्यप्त नहीं हो ।"

उपर्युक्त सभी श्रुतियां स्मृतियां एवं सूत्र ब्रह्म वस्तु के स्वरूप का उपदेश कर रहे हैं और यही बतलाते हैं कि सभी विशेषणों से रहित ज्ञान मात्र ब्रह्म ही सत्य है और उससे भिन्न प्रतीत होने वाला सम्पूर्ण जगत मिथ्या है ।

अविद्या ही भेद ज्ञान का कारण है ॥

मू०:— मिथ्यात्वं नाम— प्रतीयमानत्व पूर्वक यथावस्थित वस्तुज्ञान निवर्त्यत्वम् । यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानक सर्पादेः दोष वशाद्धि तत्र तत्कल्पनम् । एवं चिन्मात्रवपुषि परे ब्रह्मणि दोष परिकल्पितमिदं देवतिर्यङ्मनुष्य स्थावरादि भेदं सर्वं जगद् यथाव स्थित ब्रह्मस्वरूपावबोध बाध्यम् मिथ्यारूपम् । दोषश्च स्वरूप—

तिरोधान विविध विचित्र विक्षेपकरी सदसदनिर्वचनीयानाद्याविद्या। "अनृतेन हि प्रत्यूढा" (छा० ८।३।२) 'तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्" (छा०८।३।१) "न सदासीन्नो सदासीत् तदानीम् । तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम् । (तै०ब्रा० २।८।६) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते । (२।४।१६) 'मम माया दुरत्यया' (गी० ७।१४) 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।' (गौ० पा०का० १।१६) इत्यादिभिर्निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मैवानाद्यविद्यया सदसदनिर्वाच्यया तिरोहित स्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यवगम्यते ।

अनुवाद—(पहले बतलाया गया है कि ब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है। अतएव इस अनुच्छेद में सर्व प्रथम मिथ्यात्व का लक्षण बतलाकर मिथ्यात्व का कारण का विचार किया जा रहा है) जिसकी पहले प्रतीति हो किन्तु यथार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उसकी निवृत्ति हो जाय (उस वस्तु को) मिथ्या कहते हैं । जैसे रज्जु आदि में सर्प आदि की प्रतीति मिथ्या है; क्योंकि पहले तो अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी सर्प के तरह प्रतीत होती है, और उसे देखकर भय भी होता है, किन्तु जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह रस्सी है, तो फिर वहां न तो सर्प की ही प्रतीति होती है और न भय की ही ।) रस्सी आदि में सर्प की कल्पना (भ्रम) दोष के कारण

ही होती है। इसी तरह ज्ञान मात्र स्वरूप वाले परं ब्रह्म में दोप (अज्ञान) के ही कारण (प्रतीत होने वाला) यह देव, मानव स्थावर आदि भेद युक्त सम्पूर्ण जगत् परिकल्पित है; और ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान द्वारा इसका वाध सम्भव है अतएव यह जगत् मिथ्या है। (उस भ्रम को उत्पन्न करने वाला) दोप वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूप को छिपाकर (उसके स्थान पर) अनेक प्रकार के अद्भुत विक्षेपों के प्रतिभास का जनक सत् एव असत् इन दोनों में किसी भी शब्द के द्वारा जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता है, वह अनादि अज्ञान [अविद्या] है। [उस अविद्या का स्वरूप एवं फल आदि का स्पष्टीकरण निम्न श्रुतियों एव स्मृतियों से ही हो जाता है।] वे हैं— [अनृतेन०] [हृदयाकाश में विद्यमान सत्य कामनाएँ] अज्ञान से प्रतिरुद्ध रहती हैं। [तेपाम०] हृदयाकाश में विद्यमान जो सत्य कामनाएँ उनका तिरोधायक अज्ञान ही है। [नासदा०] सृष्टि से पूर्व न तो सत् था और न असत् अपितु सदसद्विलक्षण केवल अज्ञान (तम) ही था उसी से आवृत्त ब्रह्म [प्रकेत] था। [मायां०] प्रकृति को माया [मिथ्याभूत] जानना चाहिये और महेश्वर [ईश्वर] को माया सम्पन्न। [इन्द्रोमायाभि०] सर्व द्रष्टा ईश्वर [विविध अध्यासों के हेतु भूत] मायाओं के द्वारा विविध रूपों को धारण करता है। [यहाँ पर रजोगुण तमोगुण एवं सत्त्वगुण के भेद होने से बहु वचनांत प्रयोग किया गया है किन्तु माया एक है इस बात का पता गीता वाक्य से चलता है] [मम०] मेरी [सर्वज्ञ ईश्वर की] माया [ज्ञान के

विना] दुस्तर है। [अनादि०] अनादिकाल से अज्ञानान्धकार में सोया हुआ जीव [जब ज्ञान रूपी प्रकाश की किरणों को पाकर] जगता है । इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि जो सभी विशेषों से रहित ज्ञान मात्र [स्वरूप है] अनादिकाल से प्रवृत्त सत् एवं असत् दोनों प्रकारों में किसी के द्वारा जिसका निर्वचन सम्भव नहीं है ऐसी अविद्या के द्वारा जिसका स्वरूप तिरोहित हो गया है, वह ब्रह्म ही, अपने में अध्यस्त जड़ चेतन प्रपञ्च भेद का दर्शन करता है।

टिप्पणी—

मिथ्यात्वं नामेत्यादि—अद्वैती विद्वान् मिथ्यात्व का लक्षण मानते हैं कि 'प्रतीयमानत्वेसति यथावस्थित वस्तुज्ञान निवर्त्यत्वम्।' अर्थात् जिसकी पहले तो प्रतीति हो किन्तु वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर निवृत्ति हो जाय उसे मिथ्या कहते हैं। यदि मिथ्यात्व का लक्षण इतना ही किया जाय कि 'जो निवर्त्य हो उसे मिथ्या कहते हैं तो मुद्गरपात से नष्ट हो जाने वाले घट को भी मिथ्या मानना पड़ेगा। अतएव 'निवर्त्यत्वम्' मिथ्यात्व का लक्षण नहीं हो सकता है। अतएव लक्षण में ज्ञान पद का निवेश किया गया है, क्योंकि घटादि ज्ञान निवर्त्य नहीं हैं। किन्तु ऐसा लक्षण मान लेने पर भी घटादि में ही लक्षण अतिव्याप्त होगा । क्योंकि सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर के सत्य संकल्प रूप ज्ञान के द्वारा घटादि निवर्त्य हैं ही। अतएव लक्षण में यथावस्थितवस्तु पद का निवेश किया गया हैं। किन्तु ऐसा मानने

पर भी मिथ्यात्व का लक्षण ज्ञान के प्रागमन में अतिव्याप्त होने लगेगा अतएव मिथ्यात्व का स्वस्थ लक्षण "प्रतीयमानत्वे सति यथास्थितवस्तुज्ञान निवर्त्यत्वम्" । माना गया है ।

तेषां सत्यानां सत्यम् इत्यादि–इस श्रुति में उपासक के हृदय, में विद्यमान सत्य कामनाओं के लिए बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है इस श्रुति की व्याख्या में श्रुतप्रकाशिकाकार कहते हैं कि इस श्रुति में वहुवचन में तात्पर्य नहीं है । अतएव सत्यकामनाएँ अनेक रहती हैं कि एक ? इन तरह का कोई प्रश्न नहीं उठता है । श्रुत प्रकाशिकाकार का कहना है कि यहाँ पर 'अग्नितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' इस न्याय के ही अनुमार यहाँ भी बहुवचनांत पद का निर्वाह करना चाहिये । अतएव "अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु" न्याय का स्वरूप क्या है ? यह जानना आवश्यक है । तो पूर्व मीमांसा के "चिप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वात्, गुणेत्वन्याय्य कल्पनैक देशत्वात्" (९।३।१५) सूत्र में अग्निषोमीय पशु के विषय में "अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु" यह यह श्रुति आती है । इसमें पाश शब्द बहुवचनान्त हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि इस बहुवचनान्त का सम्बन्ध किससे है, पशुओं से अथवा पाश से । पूर्व पक्षीका यहाँ पर कहना है कि बहुवचनान्त का अन्वय पशुओं से ही होना चाहिए पाश तो एक है अतएव उससे उसका कैसे अन्वय होगा । इस पूर्व पक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि, 'पाशान्' में प्रकृत्यर्थ पाश है, और विभक्त्यर्थ कर्म है, ये दोनों गौण हैं, अतएव इन दोनों का अन्वय अग्निषोमीय से है, बहुवचन का अर्थ पाश का निर्देश मात्र समझना चाहिये, उसका बहुत्व नहीं, इस तरह

की व्यवस्था दी गयी है। मायां तु प्रकृतिं विद्याद्—इस वाक्य का अर्थ है कि माया का प्रकृति अर्थात् सदसद् विलक्षणा प्रकृति-अर्थात् उपादान कारण समझना चाहिये। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात्" सूत्र में भी प्रकृति शब्द उपादान कारण का वाचक है जहाँ पर इस श्रुति का विपर्यासेन अन्वय होता है वहाँ पर इसका अर्थ होता है प्रकृति को माया अर्थात् मिथ्याभूत जाने। तत्त्व टीकाकार इसी अर्थ की ओर इंगित किये हैं।

मू०—यथोक्तम्—

ज्ञान स्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्नतु वस्तुभूत ॥
ततो हि शैलाब्धि धरादि भेदान् जानीहि विज्ञान विजृम्भितानि ॥
यदातु शुद्धं निजरूपि सर्वकर्मक्षये ज्ञानमपा तदोपम्।
तदा हि संकल्पतरोः फलानि भवन्ति नोवस्तुषु वस्तुभेदा।
(वि०पु० २।१२ ३९-४०)

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम्।
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेष लोभादि निरस्त सङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोन्यदस्ति।
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं तथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतत् तु तत् संव्यवहारभूतं तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते।
इति। (वि०पु० २।१२-४३-४४-४५)

अनुवादः—

[ऊपर यह बतलाया गया है कि चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्म ही अविद्या के द्वारा स्वरूप के तिरोहित होजाने के कारण स्वगत नानात्व का दर्शन करता है। इसी अर्थ की पुष्टि निम्न विष्णुपुराण के वाक्य भी करते हैं] [ज्ञान स्व०] क्योंकि भगवान् विष्णु ज्ञान स्वरूप हैं, एवं सर्वमय हैं। अतएव तुम इन पर्वत, समुद्र, पृथिवी, आदि भेदों को केवल विज्ञान का विलास समझो। [यदा तु०] जिस समय अविद्या रहित भेददृष्टि शून्य और सभी कर्मों के नष्ट होजाने से क्लेशादि रहित ज्ञान स्वरूप आत्म ज्ञान का उदय होता है उस समय संकल्प रूपी [अज्ञान रूपी] वृक्ष के फल स्वरूप धर्मीभूत पदार्थों (वस्तुरूप से कल्पित देवादि शरीरों अथवा जीवों) में देवत्वावच्छिन्न, मनुष्यत्वावच्छिन्न) इत्यादि आकारों के भेद की प्रतीति नहीं होती है। (तस्मात्०) अतः हे द्विज ! स्वयं प्रकाश आनन्दस्वरूप विज्ञान से अतिरिक्त कभी कहीं कोई पदार्थादि नहीं हैं। अपने-अपने कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न चित्तों द्वारा एक ही विज्ञान नाना प्रकार से मान लिया गया है। (ज्ञानम् इत्यादि) वह विज्ञान (अविद्या रहित होने के कारण) अत्यन्त विशुद्ध भेद दृष्ट मूल कर्मरहित, शोक मोहादि समस्त दोषों से रहित है। वही एक एवं सर्वथा षड्विकार रहित परम परमेश्वर वासुदेव हैं, उससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है। (सद्भाव एवमित्यन्दि) इस प्रकार से मैंने तुमसे यह परमार्थ का वर्णन किया है। केवल एक ज्ञान ही सत्य है, उससे भिन्न और सब मिथ्या हैं। इसके अतिरिक्त जो

केवल व्यवहारमात्र है उस त्रिभुवन के विषय में भी मैं तुमसे कह चुका हूँ ।

टिप्पणी:—

विज्ञानविजृम्भितानिः— यहां पर विज्ञान शब्द "त्रिविधं ज्ञायते अनेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अविद्या का वाचक है, अतएव इस वाक्यांश का अर्थ है अविद्या के कारण अध्यस्त । संकल्पः—संकल्प शब्द की व्युत्पत्ति है "समन्तात् कल्पयतेऽनेन" अतएव यह अज्ञान का वाचक है । अविद्या को वृक्ष इसलिए बतलाया गया है कि जिस तरह एक ही वृक्ष अनेक फलों का जनक होता है, उसी तरह एक अविद्या ही नाना भेदों के दर्शन की जनिका है । अविद्या को वृक्ष रूप से "अविद्या-तरुसम्भूति ।" इस वाक्य में भी बतलाया गया है । वस्तुपुंवस्तुभेदः— इस वाक्यांश की व्याख्या करते हुए तत्त्वटीकाकार कहते हैं कि वस्तु रूप से अविद्या के द्वारा कल्पित जो वाचस्पति मिश्र के अनुसार अनेक जीव हैं अथवा शंकराचार्य के अनुसार अनेक देव मनुष्य आदि शरीर हैं, उनमें जो देवत्वावच्छिन्न मनुष्यत्वावच्छिन्न अथवा जीवत्वा-वच्छिन्न इत्यादि धर्मों की प्रतीति होती है वही इस वाक्यांश का तात्पर्य है । विज्ञानमूर्तेः— में विज्ञान शब्द स्वयं प्रकाश ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही वाचक है । सदैकम—पद अस्ति, जायते, वर्द्धते, परणमति, अपक्षीयते एवं विनश्यति इन विकारों से रहित आत्मा का वाचक हैं ।

अविद्या की निवृत्ति ज्ञानमात्र आत्मैकत्व विज्ञान से होती है

मू०:—अस्याश्चाविद्यायाः निर्विशेप चिन्मात्र ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानेन निवृत्तिं वदन्ति-'न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति । न पश्यो मृत्युं पश्यति' [छा. ७।२६।२] यदाह्येवैप एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । [तै. २।७।१] 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" [मु.२।२।८] "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" [मु. ३।२।६] "तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय ।" [श्वे. ३।८] इत्याद्याः श्रुतयः ।

अनुवाद

(पहले के अनुच्छेद में सम्पूर्ण भेद दर्शन का कारण अज्ञान को बतलाया गया है । प्रकृत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि जब ब्रह्मात्मैक्त्व विज्ञान हो जाता है, तो फिर उसी विज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है ।" इस अविद्या की निवृत्ति सर्व विशेषण विरहित ज्ञानमात्र ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से होती है, यह निम्न श्रुतियाँ बतलाती हैं— (न पुनर्मृ० इत्यादि) आत्मज्ञानी अविद्या के आवर्त का विषय नहीं बनता है । ब्रह्मदर्शी मरण और उसके कार्य दुःख मान का अनुभव नहीं करता है । (इस श्रुति से पता चलता है कि ऐक्यज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है ।) (यदाह्ये० इत्यादि)

जब यह मुमुक्ष इस प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अविषय भूत, शरीररहित, अनिर्वचनीय, आधार रहित (ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में) अभय प्राप्ति के लिए निष्ठा को प्राप्त करता है, उसके पश्चात् वह मुमुक्ष अज्ञान के भय से मुक्त हो जाता है । (यह श्रुति बतलाती है कि निर्विशेष ब्रह्मज्ञान से अभय की प्राप्ति होती है । (अभ्युपगत कर्म भी अविद्या कल्पित है, अतएव उसकी भी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है; इस अर्थ को बतलाती हुई श्रुति कहती है-) भिद्यते इत्यादि—उस परावर तत्त्व के ज्ञान से अविद्या तथा उसके कार्यभूत संशयादिक का नाश हो जाता है; तथा उनके निमित्तभूत सभी कर्मों का भी नाश हो जाता है । आत्मैक्य विज्ञान का फल बतलाते हुये श्रुति कहती है- ब्रह्म वेद इत्यादि- ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है । (जीवात्मैक्य ज्ञान को छोड़कर मुक्ति का दूसरा साधन नहीं है- यह बतलाते हुये श्रुति कहती हैं । तमेव इत्यादि- निर्विशेष ज्ञानमात्र ब्रह्म के ज्ञान को छोड़कर मोक्ष का कोई दूसरा साधन नहीं है ।

मूल—अत्र मृत्युशब्देनाविद्याभिधीयते । यथा सनत्सुजातवचनम्—मोहो वै मृत्युः संमतो यः कवीनामिति । प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि । सदाप्रमादमेवामृतत्वं ब्रवीमि । (स.१।४) इति । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तै.२।१।१) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।'(बृ.३।९।२८) इत्यादि शोधक वाक्यावसेय निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्माकत्व विज्ञानञ्च

'अथ योन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योहमस्मीति न सवेद' (बृ.१।४।१०)। 'अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत' (बृ.१।४।७) 'तत्त्वमसि'(छा.६।८।७)'त्वंवा अहमस्मि भगवो देवते अहंवै त्वमसि भगवो देवते (जा.) तद्योऽह सोऽसौ योऽसौ सोऽहमस्मि' (ऐ.) इत्यादि वाक्यसिद्धम्। वक्ष्यति चैतदेव—'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' इति। (ब्र. सू ४।१।३) तथा च वाक्यकारः–'आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः' (बो.वृ.) इति। अनेन च ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तिर्युक्ता।

अनुवाद

यहाँ (उपर्युक्तमोक्ष के उपाय को वतलाने वाले वाक्यों) में मृत्यु शब्द से अविद्या ही कही गयी है। जैसा कि सनत सुजातीय दर्शन के वचनों से पता चलता है–मोहो० इत्यादि जो क्रान्तद्रष्टा कवियों को अभिप्रेत है मोह ही मृत्यु शब्द का अभिधेय है। मैं अंनवधानता रूप-प्रमाद को मृत्यु [अविद्या] कहता हूं और अविद्या की निवृत्ति रूप अप्रमाद को मोक्ष मानता हूं। सत्यमित्यादि ब्रह्म अलीकप्रत्यनीक, जड़प्रत्यनीक एवं परिच्छिन्नप्रत्यनीक है।' [ब्रह्म विज्ञानस्वरूप एवं आनन्द स्वरूप है। इन शोधक वाक्यों के द्वारा जिसका निश्चय किया

जा सकता है ऐसे निर्विशेष स्वरूप ब्रह्म एवं आत्मा की एकता रूप विज्ञान की सिद्धि निम्न श्रुतिवाक्य करते हैं—

अथ० इत्यादि— यह मेरी उपास्य देवता है और मैं उससे भिन्न हूं, इस प्रकार से जानकर जो आत्मव्यतिरिक्त देवता की उपासना करता है उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है । उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान अपूर्ण हैं; ब्रह्म की आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिए। तुम वह ही हो। हे भगवन् ! उपास्य देव ! निश्चय ही तुम मेरी आत्मा रूप हो और मैं आपका स्वरूप हूं, अतएव यो मैं हूं वही ब्रह्म है, और जो ब्रह्म है वही मैं हूं" इत्यादि वाक्य जीव और ब्रह्म की एकता बतलाते हैं । सूत्रकार भी ४।३।१ इस सूत्र में बतलायेंगे कि–मुमुक्षु उपासक ब्रह्म को आत्मा रूप से जानते हैं और उसी तरह से उसको [ब्रह्म को] बतलाते हैं । इसी अर्थ का समर्थन वाक्यकार श्री बोधायन भी करते हैं—ब्रह्म की आत्मा रूप से उपासना करके तद्व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत उसी में कल्पित [निष्पन्न] है। इससे यही मानना उचित है कि ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान से मिथ्या बन्धन की अपने कारण सहित निवृत्ति संभव है। [जिस तरह रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प की निवृत्ति के लिए 'यह सर्प नहीं रस्सी है." इस प्रकार का ज्ञान होना अपेक्षित है, उसी तरह मिथ्या बन्धन की निवृत्ति के लिए आत्मैकत्व विज्ञान होना आवश्यक है ।]

प्रत्यक्ष का शास्त्र बाध्यत्व

मू०— ननु च— सकल भेद निवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा कथमिव शास्त्रार्थजन्य विज्ञानेन क्रियते, कथं वा रज्जुरेषा न सर्प इति

ज्ञानेन प्रत्यक्षविरुद्धा सर्पं निवृत्तिः क्रियते । तत्र द्वयोः प्रत्यक्षयोः विरोध इह तु प्रत्यक्षमूलस्यशास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य चेति चेत्— तुल्ययोर्विरोधे कथं बाध्यबाधकभावः । पूर्वोक्तयोर्दुष्टकारणजन्यत्वतदभावाभ्यामिति चेत्—शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समानमेतत् । एतदुक्तं भवति—बाध्य बाधकभावे तुल्यत्व—सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वादि न कारणम् ! ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्दायोगात्, तत्र हि ज्वालैक्यंप्रत्यक्षेणावगम्यते । एवं सति द्वयोः प्रमाणयोर्विरोधे यत् संभाव्यामानान्यथासिद्धं तत् बाध्यम्, अनन्यथा सिद्धमनवकाशमितरद् बाधकम्: इति सर्वत्र बाध्य बाधक भावनिर्णय इति । तस्मादनादिनिधनाविच्छन्नसम्प्रदायासंभाव्यमान दोषगन्धानवकाश शास्त्रजन्यनिर्विशेष—नित्य—शुद्ध--मुक्त--बुद्ध--स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्मात्मभावाबबोधेन संभाव्यमानदोष सावकाश प्रत्यक्षादिसिद्ध विविधविकल्परूप बन्ध निवृत्तियुक्तैव । संभाव्यते च विविध विकल्पभेद प्रपञ्चग्राहिप्रत्यक्षस्यानादिभेदवासनादिरूपाविद्याख्यो दोषः ।

अनुवाद

विशिष्टाद्वैती—[अद्वैती विद्वान् शारीरक शास्त्र विज्ञान का प्रयोजन दृश्यमाण] सम्पूर्ण भेद [प्रपञ्च] की निवृत्ति मानते हैं,

किन्तु यह मानना प्रत्यक्ष के विरुद्ध होगा [और प्रत्यक्ष प्रमाण स्वेतर समस्त प्रमाणों का मूल माना जाता है अतएव] शास्त्र जन्य विज्ञान किस प्रकार [अपने मूल भूत प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध सम्पूर्ण भेद निवृत्ति को अपना विषय] बना सकता है।

अद्वैती—[इसके उत्तर में मुझे यह पूछना है कि] यह रस्सी है, सर्प नहीं ? इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा कैसे प्रत्यक्ष के विरुद्ध [दृश्यमान] सर्प की निवृत्ति की जाती है ?

विशिष्टाद्वैती—[यह रस्सी है, सर्प नहीं इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा] सर्प निवृत्ति स्थल में तो दोनों प्रत्यक्षों में विरोध है। तुल्य प्रमाणों में विरोध होने पर दुर्बल बाध्य और सबल प्रमाण बाधक होता है। निर्दोष होने के कारण रस्सी का प्रत्यक्ष सबल है, अतएव उसके द्वारा सर्प प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है। [यहाँ तो तुल्यत्वन्याय प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि] शास्त्र प्रत्यक्ष मूलक प्रमाण है, उसका अपने मूल भूत प्रत्यक्ष से विरोध है। ऐसी स्थिति में शास्त्र अपने उपजीव्य भूत प्रत्यक्ष प्रमाण का बाधक कैसे हो सकता है ?

अद्वैती—तो फिर तुल्य प्रमाणों के बीच विरोध होने पर किसी प्रमाण को बाध्य और किसी को बाधक कैसे माना जा सकता है ?

विशिष्टाद्वैती

पूर्वोत्तरयोरित्यादि उपर्युक्त स्थल में पहले [प्रतीत होने वाला सर्प का प्रत्यक्ष अन्धकार आदि के कारण होने वाले भ्रम रूप] दोष से युक्त

है, और उसके पश्चात् जो रस्सी का प्रत्यक्ष होता है वह दोष रहित है। [अतएव पूर्वकालिक प्रत्यक्ष का बाध उत्तरकालिक रस्सी के प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता है।]

अद्वैती

शास्त्र प्रत्यक्षयोरपि इत्यादि—यह [दोष युक्तत्व और दोष रहितत्व रूप हेतु] प्रत्यक्ष और शास्त्र में भी समान रूप से विद्यमान् है। (एतदुक्तं भवतीत्यादि) कहने का आशय है कि—बाध्य बाधक भाव के नियामक, तुल्यत्व, सापेक्षत्व एवं निरपेक्षत्व आदि नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर ज्वालैक्य प्रत्यक्ष का बाध ज्वालाभेदानुमान से नहीं सम्भव है। (मूलभूत) प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा तो वहाँ [ज्वालाभेदानुमान स्थल में] एक ही ज्वाला का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु प्रत्यक्ष के दोष युक्त होने के कारण उसका ज्वाला भेदानुमान से बाध संभव है। क्योंकि (मूलभूत) प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा तो वहाँ (ज्वालाभेदानुमान स्थल में) एकही ज्वाला का प्रत्यक्ष होता है, (किन्तु उस प्रत्यक्ष के दोष युक्त होने के कारण उसका ज्वाला भेदानुमान रूप प्रमाण के द्वारा बाध हो जाता है।) एवञ्चेत्यादिः—कहने का तात्पर्य है कि दो प्रकार के प्रमाणों में विरोध होने पर जो (प्रमाण) अन्यथा सिद्ध होता है, वह बाध्य होता है और जो उससे भिन्न अनन्यथा सिद्ध तथा अवकाश रहित होता है वह बाधक प्रमाण होता है। यही बाध्य बाधक भाव का सभी स्थलों में निर्णय है। तस्मादित्यादिः—चूँकि अन्यथा सिद्धत्व एवं अनन्यथा सिद्धत्व ही बाध्यबाधक भाव के

प्रयोजक हैं, अतएव जिसका सम्प्रदाय (परम्परा) अनादिनिधनाविच्छिन्न है जिसमें दोष के गन्ध की संभावना भी नहीं की जा सकती है ऐसे (अनन्यथा सिद्ध होने के कारण) अवकाश रहित, शास्त्र के द्वारा ज्ञात होने वाला, सभी विशेषणों से रहित, नित्य (तीनों काल में विद्यमान रहने वाला) शुद्ध (अविद्या रहित) मुक्त (अविद्या जन्य जन्मादि से रहित) बुद्ध (जिसका नित्य प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता है) स्वयं प्रकाश ज्ञान मात्र ब्रह्म को आत्मा रूप से बतलाने वाले ज्ञान के द्वारा (पुरुष गत) दोष की संभावना से युक्त (अन्यथा सिद्ध होने के कारण) सावकाश प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होने वाले अनेक (देव मनुष्यादि) भेद स्वरूप (मिथ्या) बन्धन की निवृत्ति (को मान लेना) युक्ति युक्त ही है। संभाव्यते चेत्यादिः— और अनेक देवादि भेद रूप प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण में अनादि, (मूलाविद्या, भेददृष्टि) रूप अविद्या (अज्ञान) रूप दोष संभव ही है।

टिप्पणी

एतदुक्तं भवति—इस वाक्य का उपादान विशिष्टाद्वैती के सम्मत बाध्य बाधक भाव प्रयोजक के खण्डन के लिए किया गया है। क्योंकि विशिष्टाद्वैती [एक देशी] को यह अभिमत है कि—मूल मूलित्व, परोक्षत्वापरोक्षत्व इत्यादि रूप से जो प्रमाणों में वैषम्य होते हैं उनके न रहने पर जो लक्षण सदोष हो वह बाध्य होता है, और जो निर्दोष

होता है वह बाधक होता है। यदि मूल मूली परोक्ष अपरोक्ष इत्यादि प्रकार के प्रमाणों में विरोध हो तो मूल प्रमाण के द्वारा मूली प्रमाण का बाध हो जाता है, अपरोक्ष के द्वारा परोक्ष का बाध होता है; (एक देशी विष्टाद्वैती) के इस बाध्यबाधकभाव प्रयोजक का खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि बाध्य बाधक भाव के नियामक तुल्यत्व, सापेक्षत्व (मूलित्व) निरपेक्षत्व (मूलत्व) आदि नहीं हो सकते हैं। ज्वालैक्य प्रत्यक्ष के मूल प्रमाण जन्य ज्ञान होने पर भी उसका मूली अनुमान प्रमाण से बाध देखा ही जाता है। एतच्चेत्यादिः– दो परस्पर विरोधी प्रमाणों में होने वाले बाध्य बाधक भाव का स्पष्टीकरण करते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है– कि परस्पर दो विरोधी प्रमाणों में जो अन्यथा सिद्ध होता है वह बाध्य होता है और जो अनन्यथा सिद्ध प्रमाण होता है, वह बाधक होता है। कोई भी प्रमाण तब अन्यथासिद्ध होता है जब कि वह सावकाश हो। जो प्रमाण सावकाश नहीं हो वह अनन्यथा सिद्ध होता है। और कोई भी प्रमाण सावकाश दो तरह से होता है (१) यदि उसको चरितार्थ होने के लिए कोई दूसरा भी विषय हो (२)अथवा उसका अप्रमाण कोटि में निवेश हो जाय। श्रीवेदान्तदेशिक का कहना है कि अपने विषय की सत्यता के अभाव में जो प्रमाण अपने स्वरूप को प्राप्त कर सके उसे अन्यथा सिद्ध कहते हैं। "अन्यथासिद्धत्वं नाम-स्वविषय सत्यत्वमन्तरेणाऽपि स्वरूपलाभः।" इसी अर्थ को श्रुत प्रकाशिकाकार इस प्रकार से कहते हैं–"स्वोपस्थापितार्थ विषयप्रामाण्यं विनाऽपि संभावितोदयत्वमन्यथासिद्धत्वम् ।" अनन्यथा सिद्ध– प्रमाण वह होता है जिसका; उपस्थित विषय को

छोड़कर कोई दूसरा विषय न हो, साथ ही वह अप्रमाण कोटि में भी निविष्ट न हो। इस तरह का निरवकाश प्रमाण ही अनन्यथा सिद्ध होता है। इस तरह का ही बाध्यबाधक भाव सर्वत्र मान्य है।

तस्मानादि० इत्यादि–अद्वैती विद्वानों का कहना है कि यद्यपि दृश्यमान भेद युक्त प्रपञ्च प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है, किन्तु शास्त्र निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म की आत्मा से अभेद का प्रतिपादन करता है सम्पूर्ण भेदों को मिथ्या बतला कर उसका निषेध करता है। इस तरह शास्त्र और प्रत्यक्ष में विरोध उपस्थित होता है। शास्त्र को हम लोग बाधक प्रमाण इसलिए मानते हैं कि शास्त्र अनादिनिधन [नित्य] है, अतएव उसका सम्प्रदाय अविच्छिन्न है। शास्त्र के अविच्छिन्न सम्प्रदा-यत्व के विषय में मीमांसकों का कहना है कि प्रलयकाल में भगवान् किसी ऋषि को शास्त्र का उपदेश कर देते हैं और पुनः सृष्टि के आदि में उसे भगवान् स्वयं उस ऋषि से पढ़ लेते हैं; अतएव शास्त्रों का सम्प्रदाय अविच्छिन्न है। दूसरी बात यह कि शास्त्र अपौरुषेय हैं। अतएव अन्य प्रमाणों में जो कल्पक पुरुष के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव ये चार दोष होते हैं, वे दोष शास्त्र में नहीं पाये जाते हैं, अतएव शास्त्रों में कोई दोष भी नहीं। इन दो गुणों के ही कारण शास्त्र अनन्यथा सिद्ध होते हैं, और अपने विरोधी प्रमण प्रत्यक्ष के बाधक सिद्ध होते हैं।

अभेद श्रुतियों का प्राबल्य–

ननु–अनादि निधनाविच्छिन्न सम्प्रदायतया निर्दोषस्यापि

शास्त्रस्य 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादे र्भेदाव-लम्बिनो बाध्यत्वं प्रसज्येत। सत्यम्; पूर्वापरापच्छेदे पूर्वशास्त्र वन्मोक्षशास्त्रस्य निरवकाशत्वात् तेन बाध्यत एव। वेदान्त-वाक्येष्वपि सगुण ब्रह्मोपासन पराणाम् शास्त्राणामयमेव न्यायः; निर्गुणत्वात् परस्य ब्रह्मणः।

अनुवाद—विशिष्टाद्वैती– शास्त्रों का सम्प्रदाय अनादि निधनाविच्छिन्न है अतएव शास्त्र दोष रहित हैं [उनमें कोई दोष नहीं है। फिर भी आप जब सम्पूर्ण भेदों की निवृत्ति शारीरक शास्त्र का विज्ञान मानते हैं तो फिर] 'स्वर्ग की कामना से ज्योतिष्टोम याग करे' इत्यादि भेद का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का [तो आपके यहाँ] बाध हो ही जायेगा। [यह कैसे ? क्योंकि जब शास्त्र निर्दोष है, उस हालत में उसका बाध कैसे सम्भव है ?]

अद्वैती—हाँ आप ठीक कहते हैं पूर्वापरापच्छेदन्याय के विचार में जिस तरह पूर्व शास्त्र का उत्तर शास्त्र के द्वारा बाध माना जाता है, उसी तरह मोक्ष शास्त्र के निरवकाश होने के कारण उसके द्वारा भेदावलम्बी कर्मशास्त्र का बाध हो ही जाता है। यही [पूर्वापरापच्छेद] न्याय ही वेदान्तवाक्यों में भी सगुणब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों के प्रति प्रवृत्त होता है [अर्थात् निर्गुण वाक्यों के द्वारा सगुणब्रह्म प्रतिपादक शास्त्र का बाध हो जाता है।] क्योंकि परब्रह्म निर्गुण हैं, अतएव वैसे ही ब्रह्म के प्रतिपादन में शास्त्रों का तात्पर्य मानना चाहिए।

टिप्पणी—

सत्यम्—इस पद का प्रयोग अर्द्ध स्वीकार के अर्थ में हुआ इसका तात्पर्य है कि भेदावलम्बी शास्त्र है 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादि, हैं इस बात को तो हम मानते हैं, किन्तु ये शास्त्र दुष्टकरण युक्त हैं, हम ऐसा नहीं मानते हैं। क्योंकि बाध्य बाधकभाव का नियामक अन्यथा सिद्धत्व एवं अनन्यथा सिद्धत्व है; दुष्ट कारण और उसका अभाव नहीं।

पूर्वापरापच्छेदे इत्यादि—वाक्य का तात्पर्य है कि पूर्व मीमांसा के "पूर्वापरापच्छेद पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् [६।५।४५] इस सूत्र में पूर्वापरापच्छेदन्याय वर्णित है। इसका आशय है कि 'बहिष्पवमान याग में अध्वर्यु को प्रस्तोता, प्रस्तोता को प्रतिहर्ता, प्रतिहर्ता को उद्गाता, उद्गाता को, ब्रह्मा और ब्रह्मा को यजमान पकड़कर अन्वारम्भण [परिक्रमा] करते हैं। यदि इस कार्य में अपच्छेद हो जाय, अर्थात् कोई व्यक्ति किसी को छोड़ दे तो उसके प्रायश्चित का विधान है कि यदि उद्गाता से अपच्छेद हो जाय तो वह दक्षिणा रहित याग करके पुनः अन्वारम्भ प्रारम्भ करे। इसी तरह प्रतिहार्ता के विषय में भी प्रायश्चित्त का विधान है, अब प्रश्न यह है कि यदि उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों के द्वारा अपच्छेद हो जाय तो फिर प्रायश्चित्त का क्या रूप होगा ? उसके उत्तर में यह विधान आया है कि ऐसा होने पर उत्तरशास्त्र के अनुसार प्रतिहर्ता के ही प्रायश्चित से उद्गाता का प्रायश्चित हो जाता है, उसके लिए अलग प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता

तात्पर्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यनीकत्व पत्वेन सर्वपदानामर्थवत्त्वम् अपर्यायता च ।

अनुवाद-विशिष्टाद्वैती—प्रश्न है कि-सत्यम् इत्यादि वाक्यों से तो ब्रह्म के सत्य, ज्ञान आदि (अनन्तत्व) गुणों की प्रतीति होती है।

अद्वैती— सत्यम् इत्यादि श्रुति ब्रह्म के गुणों का अभिधान नहीं करती हैं। क्योंकि इस वाक्य में सामानाधिकरण्य के द्वारा एकार्थ की प्रतीति होती है। यदि आप कहें कि अनेक गुणविशिष्ट एक वस्तु का अभिधान मान लेने में भी एकार्थता का विरोध नहीं होता है; तो इसके उत्तर में मेरा कहना है कि आप अभिधान शास्त्र के जानकार नहीं हैं। एकार्थता का अर्थ है-(वाक्य के) सभी पदों के अर्थों की एकता। (सामानाधिकरण्य वाक्य द्वारा अनेक विशेषण) विशिष्ट वस्तु का अभिधान मान लेने पर विशेषण के भेद से पदों के अर्थ में भी भेद मानना आवश्यक होगा। और ऐसा मान लेने पर अर्थ की एकता की सिद्धि नहीं हो पाती है। यदि ऐसा मान लें "कि सभी पद निर्विशेष ब्रह्म को ही बतलाते हैं'; तो फिर (ब्रह्म प्रति पादक श्रुति वाक्यों के पदों में) पर्यायता नामक दोष होगा, क्योंकि वे पद किसी विशेषण संयुक्तब्रह्म का तो प्रतिपादन करते नहीं है। [तो यह कहना ठीक नहीं है] आप एकाग्र चित्त होकर सुनें [कि किस तरह सभी पदों द्वारा एक ही अर्थ के अभिधान[कहेजाने] होने पर भी वाक्य में पर्यायता दोष नहीं आता है। [समान विभक्त के द्वारा] एकत्र [के प्रतिपादन में पदों के] तात्पर्य का निश्चय हो जाने के कारण एक ही अर्थ का विभिन्न पदार्थ विरोधियों के प्रत्यनीक

(अतएव वे सगुण वाक्यों की अपेक्षा) बलवान् है। जो बलवान होता है, वही बाधक होता है, अतएव हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं।

टिप्पणी—

सत्यकामः इत्यादि-श्रुति का अर्थ है कि सिद्धियाँ सदा भगवान् की इच्छा की प्रतीक्षा किया करती हैं। श्री वेदान्त देशिक के शब्दों में—'स्वेच्छायां सर्वसिद्धिं वदति भगवतोऽवाप्तकामत्ववादः' (तत्त्व मु० क० ३।१) अर्थात् भगवान की स्वेच्छा मात्र से सभी कामनाओं की पूर्ति होते रहना ही उनका सत्य कामत्व एवं सत्य संकल्पत्व कहलाता है। कूटस्थम्—सम्पूर्ण विकारों के अभ्यास तथा अभ्यास की निवृत्ति में समान रूप से बने रहने के कारण ब्रह्म को कूटस्थ कहा जाता है।

॥ सत्यं ज्ञान मित्यादि सामानाधिकरण्य वाक्य का अर्थ ॥

मूल—ननु च-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यत्र सत्यज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते। नेत्युच्यते। सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतेः। अनेक गुणविशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धम्—इति चेत्—अनभिधानज्ञोदेवानां प्रियः। एकार्थत्वं नाम—सर्व पदानामर्थैक्यम्, विशिष्टपदार्थाभिधाने विशेषणभेदेन पदानामर्थभेदोऽवर्जनीयः ततश्चैकार्थत्वं न सिद्ध्यति। एवं तर्हि सर्वपदानाम् पर्यायता स्यात् अविशिष्टार्थाभिधायित्वात्। एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायत्वमवहितमनाः शृणु—एकत्व

कूटस्थ नित्य चैतन्यं ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ति, इतराणि च सगु-णम्, उभयविध वाक्यानां विरोधे तेनैवापच्छेदन्यायेन निर्गु-वाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद् बलीयस्त्वमिति न किञ्चिद-पहीनम् ।

अनुवाद- विशिष्टाद्वैती—प्रश्न है कि 'जो परमात्मा सर्वज्ञ एवं सभी वस्तुओं का विशेष रूप से ज्ञाता है, 'उस परमात्मा को अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती, उसकी ज्ञान एवं बल की क्रियाएं स्वाभाविक हैं' 'वह सत्य काम एवं सत्य संकल्प है' इत्यादि ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का बाध कैसे होगा ?

अद्वैती—निर्गुण वाक्यों के सामर्थ्य से। (वे निर्गुण वाक्य कौन हैं उनका सामर्थ्य कैसा है ? इस शका का समाधान करने के लिए अद्वैती विद्वान् कहते हैं) एतदुक्तं भवति—कहने का आशय यह है कि-'ब्रह्म ने तो स्थूल है और न तो अणु. वह ह्रस्व (छोटा) भी नहीं और दीर्घ (बड़ा) भी नहीं है। ब्रह्म अनृतव्यतिरिक्त, जड व्यतिरिक्त, एवं परिच्छिन्न व्यतिरिक्त है' 'वह गुण रहित एवं विकार रहित है' इत्यादि वाक्य सभी विशेषणों से रहित, कूटस्थ, नित्य, ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इन सबों से भिन्न' (यः सर्वज्ञः इत्यादि वाक्य) सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। दोनो प्रकार के वाक्यों में विरोध (उपस्थित) होने पर पूर्वोक्त अपच्छेद न्याय के ही द्वारा निर्गुण वाक्यों के गुण सापेक्ष होने के कारण, वे (निर्गुण वाक्य) सगुण वाक्यों की अपेक्षा पर(बलवान्)हैं।

नहीं होती । यहाँ पर जैसे उत्तर शास्त्र के द्वारा पूर्वशास्त्र का बाध हो जाता है, उसी तरह भेदावलम्बी पूर्व शास्त्र का मोक्ष शास्त्र के द्वारा बाध हो जाता है। इसी तरह निर्गुण वाक्यों के द्वारा वेदान्त के सगुण वाक्यों का भी बाध हो जाता है ।

वेदान्तवाक्येषु इत्यादि—विशिष्टाद्वैती विद्वानों की यह शंका है कि वेदान्तों में भी कुछ ऐसे वाक्य हैं जो सगुणोपासना का विधान करते हैं, अतएव वे भेदावलम्बी हैं, वहाँ पर पूर्वापरापच्छेद न्याय तो नहीं प्रवृत्त हो सकता है; उसके उत्तर में अद्वैती विद्वानों का कहना है कि ऐसी बात नहीं,सगुणोपासना परक वाक्यों का भी तात्पर्य उपासना में है, सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन में नहीं है। अतएव वहाँ भी उपर्युक्त न्याय की प्रवृत्ति होती ही है।

मूल— ननु च 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (मु० १।१।६) 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) सत्यकामः। सत्यसंकल्पः' (छा०८।१।५) इत्यादि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपराणाम् कथं बाध्यत्वम्: निर्गुणवाक्यसामर्थ्यादितिचेन्मः'। एतदुक्तं भवति, 'अस्थूलम-नण्वह्रस्वम्' (बृ० ३।८।८) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तै० २।१।१) 'निर्गुणम्' (चू० ७।२) 'निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादि वाक्यानि, निरस्तसमस्तविशेष

[रूप अर्थ के] प्रतिपादक होने से सभी पद सार्थक, एकार्थक एवं पर्यायता दोष रहित [सिद्ध होते] है।

टिप्पणी —

सत्य ज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते– इस वाक्यांश के कहने में विशिष्टाद्वैती का यह तात्पर्य है कि जिस तरह 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इस पाणिनीय सूत्र में द्व्येक शब्द द्वित्व एवं एकत्व के वाचक हैं उसी तरह इस श्रुति में सत्य, ज्ञान आदि पद सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि के वाचक हैं। अतः सत्य ज्ञान आदि ब्रह्म के गुण हैं जैसा कि श्रीवत्साङ्क मिश्र ने इस श्रुति के अर्थ वर्णन प्रसङ्ग में कहा है– "गुणाः सत्यज्ञानप्रभृतय उत" इत्यादि। क्योंकि 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि समानाधिकरण्य वाक्य हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि सामानाधिकरण्य का सिद्धान्त लक्षण लिखते हैं कि- "भिन्न प्रवृत्ति निमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।" अर्थात् जहां पर भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति निमित्तवाले पद एक ही अर्थ को बतलायें वहाँ पर समानाधिकरण्य वाक्य होता है। प्रवृत्तिनिमित्त पद में षष्ठी तत्पुरुष है- प्रवृत्तेः निमित्तम् प्रवृत्ति निमित्तम्। प्रकृष्ट वृत्ति ही प्रवृत्ति कहलाती है। शब्द की अर्थ में वृत्ति अर्थ का बोध कराना है और विशेष्यभूत प्रधान अर्थ को अपना विषय बनाना उसकी प्रवृत्ति है। निमित्त पद साधन का वाचक हैं। प्रधानअर्थ के ज्ञान के साधन उसके विशेषण रूप से प्रतीत होने वाले गुण, जाति आदि होते हैं। 'एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः' में एक शब्द साधारण का वाचक है। और अर्थ शब्द विशेष्यभूत प्रधान अर्थ का वाचक हैं। कहने का आशय यह है

कि,शब्द तीन तरह के होते है १—ऐसे शब्द जो विशेषण एवं विशेष्य दोनों प्रकार से किसी एक ही अर्थ को बतलाने वाले होते हैं। जैसे घटः कुम्भः इत्यादि। २—कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो विशेषण एवं विशेष्य दोनों ही प्रकार से भिन्न अर्थ के प्रकाशक होते हैं जैसे—गौरश्वो महिषः इत्यादि। ३—कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो विशेषण रूप से भिन्न अर्थों के वाचक होते हैं और विशेष्य रूप से एक अर्थ के वाचक होते हैं-जैसे-नीलमुत्पलम्, देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षः, इत्यादि।

इनमें तीसरे प्रकार के जो शब्द होते हैं उनमे ही समानाधिकरण्य होता है। लक्षण में 'भिन्न प्रवृति निमित्तानाम्' इस विशेषण के द्वारा विशेषणतः एव विशेष्यतः दोनों प्रकार से एक ही अर्थ का बोध कराने वाले घटः कुम्भः जैसे पदों में समानाधिकरण्य का वारण किया गया है। "एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः" के द्वारा विशेषणतः एवं विशेष्यतः दोनों प्रकार से भिन्न अर्थों के अवबोधक "गौरश्वो महिषः" इत्यादि शब्दों में सामाना-धिकरण्य का वारण किया गया है। अतः एव तीसरे प्रकार के शब्द; जो विशेषण रूप से तो भिन्नार्थक किन्तु विशेष्य रूप से एकार्थक होते हैं; उनमें ही सामानाधिकरण्य होता है। सामानाधिकरण्य के इसी स्वरूप को दृष्टि पथ में रखकर विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि सत्य ज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते। किन्तु अद्वैती विद्वानों का कहना है कि सामानाधिकरण्य वाक्य अखण्डार्थक होते हैं, और वे किसी एक अर्थ का ज्ञान कराते है। ऐसे वाक्य 'स्वरूप मात्र के प्रतिपादक होते हैं। इस पर विशिष्टाद्वैतो विद्वानों का यह कहना है कि यदि सभी शब्दों को एक ही अर्थ का प्रतिपादक माना जाय तो सामानाधिकरण्य वाक्य में तीन दोष होंगे—

[१] पर्यायता- जैसे घटो घटः आदि पर्यायवाची शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, उसी तरह की पर्यायता उन सभी शब्दों में होगी और जिस तरह घटोघटः का शाब्दबोध नहीं होता है, उसी तरह उन सभी वाक्यस्थ शब्दों का शाब्दबोध नहीं हो पायेगा। [२] यदि एक ही शब्द के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात हो गया तो फिर दूसरे शब्दों का प्रयोग व्यर्थ होगा। इस तरह वैयर्थ्य नामक दोष भी होगा। [३] सामानाधिरण्य वाक्य वहीं होता है जहाँ पर शब्दों के प्रवृतिनिमित्त में भेद पाया जाय, इस वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के प्रवृति निमित्त में कोई भेद ही नही रहेगा तो फिर यह सामानाधिकरण्य वाक्य भी नही हो पायेगा। इसके उत्तर में अद्वैती विद्वानों का यह कहना कि सभी शब्द ज्ञानमात्र ब्रह्म को विभिन्न पदार्थ विरोधि प्रत्यनीक रूप से बतलाते हैं, अतएव उन शब्दों में पर्यायता और वैयर्थ्य दोष नहीं हो सकते। शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त के भेद के क़ारण सामानाधिकरण्य के लक्षण की हानि भी नहीं हो सकती है। यदि यहाँ पर यह कहें कि ब्रह्म में फिर स्वेतर समस्त व्यावृतत्व रूप धर्म आयेगा तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह व्यावृत्ति ब्रह्म का स्वरूप ही है, धर्म नहीं। जैसे धवलिमा की कृष्णता से व्यावृत्ति धवलिमा स्वरूप ही है उसी तरह सकलेतर व्यावृत्ति ब्रह्म का स्वरूप है धर्म नहीं। अतएव श्रुति के सभी पद सार्थक एव एकार्थक सिद्ध होते हैं।

मूल—एतदुक्तं भवति—लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतर पदार्थ विरोधि रूपं,तद्विरोधि रूपं सर्वमनेन पदत्रयेण फलतो

व्युदस्यते । तत्र सत्यपदं विकारास्पदत्वेनासत्याद् वस्तुनो व्यावृत्त ब्रह्मपरम् । ज्ञान पदं चान्याधीन प्रकाशाज्जडरूपाद् वस्तुनो व्यावृत्त ब्रह्मपरम् । अनन्तपदश्च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नाद् व्यावृत्तब्रह्मपरम् । न च व्यावृत्तिर्भावरूपोऽभावरूपो वा धर्मः, अपि तु सकलेतर विरोधि ब्रह्मैव—यथा शौक्ल्यादेः कार्ष्ण्यादिव्यावृत्तिः तत्तत् पदार्थस्वरूपमेव न धर्मान्तरम्; एवमेकस्यैव वस्तुनः सकलेतर विरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरम् एकार्थम् अपर्यायं च पदत्रयम् । तस्मादेकमेव ब्रह्म स्वयंज्योतिः निर्धूतनिखिलविशेषमित्युक्तं भवति ।

अनुवाद—कहने का आशय है कि स्वरूप लक्षण के द्वारा जानने योग्य ब्रह्म स्वेतर समस्त पदार्थ विरोधी रूप है । (सत्य ज्ञानादि श्रुति वाक्य के) इन तीन पदों के द्वारा फल रूप से ब्रह्म विरोधी सम्पूर्ण जगत् भिन्न रूप से फलित होता है। इन तीनों पदों में सत्य पद विकारास्पद (विकार के योग्य) होने के कारण असत्य वस्तु से भिन्न ब्रह्म को बतलाता है । और ज्ञान पद (अपने से भिन्न किसी) दूसरे साधन से प्रकाशित होने वाले जड़ स्वरूप वस्तुओं से भिन्न रूप से ब्रह्म को बतलाता है । अनन्त पद देश, काल एवं वस्तु (विशेष) से परिच्छिन्न (सीमित) वस्तुओं से भिन्न ब्रह्म को बतलाता है। (यह स्वेतर समस्त वस्तु भिन्नता प्राभाकार एवं सिद्धान्ती जैसा कि मानते हैं वैसा) भाव रूप अथवा (वैशेषिकों के अभिमत) अभाव रूप [ब्रह्म का] धर्म नहीं है;

वल्कि वह स्वेतर समस्त वस्तु विरोधी ब्रह्म ही है। जिस तरह धवलिमा आदि की कालिमा आदि से जो भिन्नता है वह धवलिमा रूपही है कोई उससे भिन्न पदार्थ नहीं है। इस तरह श्रुति के तीनों पद एक ही ब्रह्म को सकलेतर विरोधी रूप से बतलाते हुए सार्थक, एकार्थक एवं पर्यायता दोष रहित सिद्ध होते हैं। इस तरह एक ही ब्रह्म स्वयं प्रकाश एवं सम्पूर्ण विशेषों से रहित है; ऐसा अद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है।

टिप्पणी:—

अथवत्तरम्—में तरप् प्रत्य हैं। इसका शौक्ल्यादि दृष्टान्त से तथा सगुणवादी से प्रयोजन की अधिकता का प्रतिपादन ही आशय है। १—शौक्ल्यादि दृष्टान्त प्रत्यक्ष के विषय है किन्तु परं ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसको स्वेतर समस्त वस्तु व्यावृत्त बतलाना यह दृष्टान्त के अपेक्षा प्रयोजन की अधिकता है। २—जगत के कारणभूत ब्रह्म के शंकित दोष की निवृत्ति ही अपेक्षित है, दुसरे गुण नहीं यह भेदवादी की अपेक्षा प्रयोजन की अधिकता है।

मूल — एवं वाक्यार्थप्रतिपादने सत्येव, 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेक मेवाद्वितीयम्।' इत्यादिभिरैकार्थ्यम्। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१।१) 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' (छा० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० १।१)

इत्यादिभि र्जगत् कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते- 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति । तत्र सर्वशाखा प्रत्ययन्यायेन कारण-वाक्येषु सर्वेषु सजातीय विजातीयव्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्म अवगतम् । जगत कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः प्रतिपिपाद-यिषितं स्वरूपं तदविरोधेन वक्तव्यम् । अद्वितीयत्वश्रुतिर्गुण-तोऽपि सद्वितीयतां न सहते । अन्यथा 'निरञ्जनम्' 'निर्गुणम्" इत्यादिभिश्च विरोधः । अतश्चैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति ।

अनुवादः—(सत्यं मित्यादि) वाक्य का ऐसा ही वाक्यार्थ प्रतिपादन करने पर (सदेव) हे सोमाहं यह सम्पूर्ण प्रपञ्च सजातीय, विजातीय स्वगत भेद शून्य एक एवं अद्वितीय सत् स्वरूप ही था । इत्यादि वाक्यों से (उसकी) एकार्थता होगी । (यतो०) निश्चय ही जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, (सदेव०) हे सोमाहं यह प्रपञ्च सृष्टि से पूर्व सत् रूप ही था । (आत्मा०) निश्चय ही यह अकेला आत्मा ही था ।" इत्यादि वाक्यों के द्वारा जगत् के कारण रूप से उपलक्षित ब्रह्म का स्वरूप इस 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' वाक्य से कहा जाता है । उनमें सर्वशाखाप्रत्यय न्याय के द्वारा सभी कारण वाक्यों में सजातीय विजातीय व्यावृत्त (भिन्न) अद्वितीय ब्रह्म जाना गया है । जगत् के कारण रूप से उपलक्षित अद्वितीय ब्रह्म का

प्रतिपिपादयिषित (तात्पर्य भूत) स्वरूप के अनुकूल ही इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादन किया जाना चाहिए। सदेव श्रुति का अद्वितीय पद ब्रह्म के गुण जन्य भेद (स्वगतभेद) को भी नहीं सह सकता है। ऐसा नहीं मानने पर 'निरंजमम्' (ब्रह्म सभी दोषों से रहित है) तथा 'नर्गुणम्' (ब्रह्म सभी गुणों से रहित है,) इत्यादि श्रुतियों से भी विरोध होगा। अत एव यह ('सत्यम् ज्ञानम्०' इत्यादि) लक्षण वाक्य ब्रह्म को अखण्ड तथा सदा एकरस (एक समान बने रहने वाला) बतलाते हैं।

॥ तात्पर्य सुरक्षा हेतु वाक्य के सभी पदों में लक्षणा संभव ॥

मू०—ननु च– सत्यज्ञानादि पदानाम् स्वार्थग्रहणेन स्वार्थ विरोधे व्यावृत्तं वस्तु स्वरूपोपस्थापन परत्वे लक्षणा स्यात्। नैष दोषः, अभिधान वृत्तेरपि तात्पर्यवृत्तेर्बलीयस्त्वात्। सामानाधिकरण्यस्य ह्यैक्य एव तात्पर्यमिति सर्वसंमतम्। ननु च– सर्वपदानां लक्षणा न दृष्टचरी। ततः किम्? वाक्य तात्पर्याविरोधे सति एकस्यापि न दृष्टा। समभिव्याहृतपदसमुदायस्य एतत्तात्पर्यमिति निश्चिते सति, द्वयोस्त्रयाणां सर्वेषां वा तदविरोधाय एकस्येव लक्षणा न दोषाय। तथा च शास्त्रस्थैरभ्युपगम्यते। कार्यवाक्यार्थवादिभिः लौकिकवाक्येषु सर्वेषां पदानां लक्षणा समाश्रीयते। अपूर्व कार्य एव लिङादेर्मुख्य

वृत्तत्वात् लिङादिभिः क्रियाकार्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते । कार्यान्वितवाक्यार्थाभिधायिनाञ्च इतरेषां पदानामपूर्वं कार्यान्वित एव मुख्यार्थ इति क्रियाकार्यान्वितप्रतिपादनं लाक्षणिकमेव । अतो वाक्य तात्पर्या विरोधाय सर्व पदानां लक्षणाऽपिन दोषः अत–इदमेवार्थं जातं प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः प्रमाणम् ।

अनुवादः—[विशिष्टाद्वैती- अद्वैती सत्य ज्ञान आदि सभी पदों का अर्थ प्रत्यनीकत्व रूप मानते हैं । उनका कहना है कि सत्यपद सत्यत्व को न बतलाकर अनृत प्रत्यनीक रूप से ब्रह्म को बतलाता है । ज्ञानपद जडप्रत्यनीक रूप अर्थ को ब तलाता है, और अनन्तपद परिच्छिन्न प्रत्यनीक को बतलाता है । ऐसी स्थिति में] यह प्रश्न उठता है कि सत्य ज्ञान आदि पदों को मुख्यार्थ परित्याग पुरस्सर मुख्यार्थ विरोधी व्यावृत्त [भिन्न] रूप से वस्तु [ब्रह्म] के स्वरूप का उपस्थापक मानने पर, [उन पदों में] लक्षणा वृत्ति (स्वीकार करनी] होगी । [किन्तु लक्षणावृत्ति जघन्या वृत्ति है । अतएव उसको सभी विचारक स्वीकार करना उचित नहीं समझते हैं ।]

अद्वैतीः—[सत्यं ज्ञानम आदि पदों में लक्षणा वृति स्वीकार करना] यह कोई दोष नहीं है । शब्द की मुख्यावृत्ति की अपेक्षा उसकी तात्पर्यवृत्ति बलावान होती है । और सामानाधिकारण्य के विषय में यह सर्व सम्मत बात है कि उसका तात्पर्य किसी एक अर्थ के ही प्रतिपादन में होता है । यहां पर [यदि आप यह कहें कि देखा जाता

है कि लक्षणिक वाक्य के किन्हीं एक दो पदों में लक्षण होती है ।] वाक्य के सभी पदों में कभी लक्षण नहीं देखी गयी है। [और यहाँ पर तो आप उक्त वाक्य के सभी पदों में लक्षणा स्वीकार करते हैं।] तो इससे [वाक्य के सभी पदों में लक्षण मानने से] क्या हुआ ? यदि वाक्य के तात्पर्य से [मुख्यार्थका] कोई विरोध न हो तो वाक्य के एक भी पद में लक्षणा नहीं होती है । वाक्य में उच्चारण किए गए पदों का यह तात्पर्य हैं, ऐसा निश्चय हो जाने पर उसके साथ सामञ्जस्य बैठाने के लिये, [वाक्य के] दो तीन अथवा वाक्य के सभी पदों में लक्षण किसी एक पद की ही लक्षणा के समान दोषावह नहीं होती है । और [मीमांसक आदि] दूसरे परीक्षक भी सभी पदों में लक्षणा का अदोषत्व स्वीकार करते हैं । सभी वाक्यों का तात्पर्य किसी कार्य विशेष में मानने वाले [मीमांसक] विद्वानों द्वारा लौकिक वाक्यों के सभी पदों में लक्षणा स्वीकार की जाती है । क्योंकि मीमांसकों के सिद्धान्त में लिङ् आदि की मुख्यावृत्ति अपूर्व कार्य में ही होती है, [अतएव] लिङ् आदि के द्वारा क्रिया का कार्य लक्षणावृत्ति के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । [अपूर्व रूप] कार्य से अन्वित होकर ही अपने स्वार्थ [मुख्यार्थ] के वाचक बनाने वाले तथा उससे भिन्न पदों के अपूर्व कार्य से अन्वित होने पर ही [वह उसका] मुख्यार्थ माना जाता है; अत एव क्रिया का कार्य से अन्वित होना लाक्षणिक ही है । फलतः वाक्य के तात्पर्य से सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए "सत्यं ज्ञानमित्यत्यादि वाक्य के" सभी पदों में लक्षण मानना दोषावह नहीं है । इसी अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों का प्रमाण है ।

टिप्पणी:—

अपूर्वं कार्यं एव लिङादेर्मुख्यवृत्तत्वात् लिङादिभिः क्रिया कार्य लक्षणया प्रतिपाद्यते—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि प्राभाकर मीमांसकों के मत में "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में स्वर्ग की कामना करने वाला पुरुष नियोज्य है उसके प्रति लिङ् शब्द के द्वारा कार्य रूप से क्रिया नहीं बतलायी जा सकती है। कामना करने वाला पुरुष तो काम्य (स्वर्ग) से भिन्न तथा काम्य से अव्यवहित साधन को ही कार्य रूप से जानता है, व्यवहित साधन को नहीं। क्रिया रूप साधन तो अस्थायी है, अतएव स्वर्ग प्राप्ति पर्यन्त बना रहे यह नहीं हो सकता है; फलतः वह उसका साधन नहीं बन सकता है। अतएव उसका कामी रूपी नियोज्य के साथ अन्वय नहीं हो सकता है। इसलिए फल (स्वर्ग) की प्राप्ति पर्यन्त बना रहने वाला तो अपूर्व ही है; जो क्रिया (यज्ञानुष्ठान) के द्वारा उत्पन्न होता है, और वही लिङ् का वाच्यार्थ है। लोक में जो क्रिया रूप से लिङ् का प्रयोग होता है वह तो लाक्षणिक ही है, क्योंकि लिङ् को नानार्थक नहीं माना जा सकता है। अतएव उनके मत में वाक्य के सभी पद अदृष्ट रूप कार्य को ही बतलाने के कारण लाक्षणिक माने जाते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्रिया ही तो कार्य की प्रतिपादिका है; अतएव उसको तो लाक्षणिक मान लिया जाय; किन्तु वाक्य के सभी पदों को कैसे लाक्षणिक माना जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि वाक्य में प्रायः दो तरह के पद होते हैं, क्रिया पद और कारक पद। क्रिया पद तो लाक्षणिक हैं ही,

कारक पद भी लाक्षणिक होते हैं क्योंकि वाक्य में ही अन्वित होकर वे अपने मुख्यार्थ को बतलाते हैं और उनका मुख्यार्थ अदृष्ट रूप ही होता है, अत एव वे सभी पद लक्षणावृत्ति के ही द्वारा अपूर्व कार्य को बतलाने के कारण लाक्षणिक हैं।

॥ शास्त्र से प्रत्यक्ष का विरोध है ही नहीं ॥

प्रत्यक्षादिविरोधे च शास्त्रस्य बलीयस्त्वमुक्तम्; सति च विरोधे बलीयस्त्वम् वक्तव्यम्; विरोध एव न दृश्यते, निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्म ग्राहित्वात् प्रत्यक्षस्य। ननु च–घटोऽस्ति पटोस्ति इति नानाकारवस्तुविषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्रग्राहीत्युच्यते। विलक्षण ग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिक विज्ञानवदेकव्यवहारहेतुतैव स्यात्। सत्यम्; तथैवात्र विविच्यते। कथम्? घटोस्तीत्यत्रास्तित्वं तद्भेदश्च व्यवह्रियते; न च द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्षमूलत्वं सम्भवति, तयोर्भिन्न कालज्ञानफलत्वात् प्रत्यक्षज्ञानस्य चैकक्षणवर्तित्वात्। तत्र स्वरूपं वा भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति विवेचनीयम्। भेदग्रहणस्य स्वरूपग्रहण तत्प्रतियोगि स्मरण सव्यपेक्षत्वादेव स्वरूपविषयत्वमवश्याश्रयणीयमिति न भेदः प्रत्यक्षेणगृह्यते; अतो भ्रान्तिमूलो भेदव्यवहारः।

अनुवाद—अद्वैती [पीछे यह] कहा जा चुका है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में परस्पर विरोध होने पर शास्त्र प्रमाण बलवान् होता है। और शास्त्रों में भी परस्पर विरोध होने पर सगुणशास्त्र की अपेक्षा निर्गुणशास्त्र बलवान् होता है। किन्तु यह दुर्बल एवं सबल भाव विरोध होने पर ही होता है। [वास्तविकता तो यह है कि सकल भेद की निवृत्ति मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों एवं शास्त्र में] विरोध ही नहीं है; [अतएव उनके सबल एवं दुर्बल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा भी निर्विशेष [सभी विशेषणों से रहित] सत्तामात्र ब्रह्म का ग्रहण होता है।

विशिष्टाद्वैती—प्रश्न है कि—यह घट है, यह पट है, इस प्रकार से विभिन्न आकार वाली वस्तुओं को अपना विषय बनाने वाला प्रत्यक्ष सत्ता मात्र को ही अपना विषय बनाता है, [यह आप] कैसे कह सकते हैं ? यदि [विभिन्न प्रत्यक्षों में] विलक्षण [भिन्न] वस्तुओं का ग्रहण [साक्षात्कार न माना जाय तो सभी ज्ञानों के विषय के एक होने के कारण धारावाहिक बुद्धि स्थल में होने वाले ज्ञान के समान उन सभी ज्ञानों को एक ही मानना होगा। [किन्तु ऐसा तो होता नहीं सभी प्रत्यक्षों के ज्ञान को भिन्न-भिन्न माना जाता है। अतएव प्रत्यक्ष को सत्ता मात्र का ग्राहक नहीं माना जा सकता है।]

अद्वैती—आपकी बात अर्द्ध सत्य है— (क्योंकि) यह घट है, पट है इत्यादि प्रत्यक्ष स्थल में केवल सत्ता मात्र का ही ग्रहण होता है, अस्तित्व का ज्ञान भी सभी व्यवहारों में एक ही समान होता है उसका

व्यवहार भेदयुक्त होता है) जिस तरह से प्रत्यक्ष के द्वारा सत्ता मात्र का ग्रहण होता है वैसा मैं प्रतिपादित करता हूं। क्योंकि–'घट है' इस प्रत्यक्ष में घट की सत्ता और उसका स्वेतर पटादि से भेद का व्यवहार भी होता है। किन्तु दोनों व्यवहारों का प्रत्यक्ष मूलक होना सम्भव नहीं है। क्योंकि वे दोनों [सत्ता एवं भेद] भिन्न-भिन्न काल में होने वाले ज्ञान के फल होते हैं और प्रत्यक्ष ज्ञान केवल एक ही क्षण तक विद्य-मान रहता है। विवेचन का विषय है कि प्रत्यक्ष का विषय कौन है? वस्तु का स्वरूप अथवा उसका भेद। [किन्तु भेद को प्रत्यक्ष का विषय इसलिए नहीं माना जा सकता है कि] भेद के ग्रहण के लिए वस्तु के स्वरूप का ज्ञान तथा उसके [वस्तु के] प्रतियोगी का स्मरण आवश्यक होता है, अतएव प्रत्यक्ष का विषय स्वरूप को ही मानना चाहिए, अतः प्रत्यक्ष के द्वारा भेद का ग्रहण नहीं होता है। फलतः भेद का व्यवहार भ्रान्ति मूलक ही हैं।

भेद का खण्डन

किञ्च–भेदो नाम कश्चित् पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूप-यितुं न शक्यते। भेदस्तावन्न वस्तुस्वरूपम्, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहारवत् सर्वस्माद् भेदव्यहारप्रसक्तेः। न च वाच्यम् स्वरूपे गृहीतेऽपि भिन्न इति व्यवहारस्य प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वात्, तत्स्मरणाभावेन तदानीमेव न भेदव्यवहारः–इति। स्वरूपमात्र

भेदवादिनो हि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा। स्वरूप-भेदयोः स्वरूपत्वाविशेषात्। यथा स्वरूपव्यवहारो न प्रतियो-ग्यपेक्षः, भेदव्यवहारोऽपि तथैवस्यात्। हस्तः कर इतिवत् घटो भिन्नः इति पर्यायत्वचस्यात्। नापि धर्मः—धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद्भेदोऽवश्याश्रयणीयः, अन्यथा स्वरूपमेवस्यात्। भेदे च तस्यापि भेदस्तद् धर्मस्तस्यापीत्यनवस्था। किञ्च जात्यादि विशिष्ट वस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणम्। भेदग्रहणेसति जात्यादि विशिष्टवस्तु ग्रहणमित्यन्योन्याश्रयणम्। अतो भेदस्यदुर्निरूप-त्वात् सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम्।

अनुवादः—दूसरी बात यह है कि— भेद नाम का कोई पदार्थ भी है, इस तरह का प्रतिपादन कोई भी शास्त्रीय न्यायों का जानकार व्यक्ति नहीं कर सकता है। क्योंकि भेद को वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता है, (क्योंकि भेद को) वस्तु का स्वरूप मानने पर जिस तरह वस्तु के स्वरूप का व्यवहार होता है, उसी तरह से उसके स्वेतर समस्त वस्तुओं से भेद का भी व्यवहार होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतएव भेद को वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता है।

विशिष्टा द्वैतीः—वस्तु के प्रत्यक्षकाल में उसके स्वरूप का ग्रहण होने पर भी, उसका स्वेतर समस्त वस्तुओं से भेद का व्यवहार होने के लिए उसके प्रतियोगी (जिन वस्तुओं से भेद होता है उन

वस्तुओं) का स्मरण होना आवश्यक है । (चूँकि वस्तु के साक्षात्कार काल में) उसके प्रतियोगियों का स्मरण नहीं होता है अतएव उसी समय उसके भेद का व्यवहार नहीं होता है । (अतएव भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है ।)

अद्वैती:—वस्तु के स्वरूप को ही उसका (स्वेतर समस्त वस्तुओं से) भेद मानने वालों के मत में (भेद के व्यवहार के लिए उसके प्रतियोगियों के स्मरण की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि जिस तरह स्वरूप वस्तु से अभिन्न है [और उसका व्यवहार यह पृथु वुध्नोदराकार घट है, इस प्रकार का व्यवहार होता है] उसी तरह वस्तु से अभिन्न होने के कारण [घट स्वतेर घटपट आदि सभी वस्तुओं से भिन्न है] इस प्रकार का भेद व्यवहार भी होना चाहिए । जिस तरह व्यवहार के लिये वस्तु के स्वरूप को अपने प्रतियोगी (के स्मरण) की आवश्यकता नहीं होती है, उसी तरह भेद को भी अपने व्यवहार के लिए अपने प्रतियोगी के स्मरण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

[दूसरी बात यह है कि यदि भेद भी वस्तु का स्वरूप होगा तो फिर] जिम तरह पर्यायवाची होने के कारण 'हस्तः करः] इस वाक्य का शाब्दवोध नहीं होता है, उसी तरह से 'घटो भिन्नः' इस वाक्य का भी शाब्दवोध नहीं हो पायेगा । [क्योंकि सामानाधि-कारण्य वाक्य में शब्दों के भिन्न प्रवृत्ति निमित्त का होना आवश्यक है । हस्तः करः में शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त में भेद न होने कारण शाब्द बोध नहीं होता है । यही स्थिति भेद को वस्तु का स्वरूप मानने पर

'घटो भिन्नः' इस वाक्य की भी होगी। [भेद को वस्तु का धर्म भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि भेद को वस्तु का धर्म मानने पर उसका वस्तु के स्वरूप से भेद अवश्य स्वीकार करना होगा, भेद नहीं मानने पर तो वह [भेद] भी वस्तु का स्वरूप ही होगा। यदि भेद को वस्तु से भिन्न माना जाय तो फिर उसका भी जो भेद होगा वह उस भेद का धर्म होगा और उस धर्म का जो भेद होगा वह भी उस धर्म से भिन्न होगा इस तरह से [अनन्तापेक्षकत्व रूप] अनवस्था दोप होगा।

किञ्चः—जाति आदि विशेपणों से विशिप्ट वस्तु का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण मानने पर उसके भेद का ग्रहण हो सकता है, और भेद के ग्रहण होने पर जाति आदि से विशिप्ट वस्तु का ग्रहण हो पायेगा, इस तरह से अन्योन्याश्रय दोप भी होगा। अतः भेद का निरूपण नहीं किये जा सकने के कारण [यही मानना ठीक हैं कि] प्रत्यक्ष सत्ता मात्र का ही प्रकाशक है।

अनुवर्तित होते रहने वाली सत्तामात्र ही सत्य है।

मूल——किञ्च—'घटोऽस्ति, पटोसति, घटोऽनुभूयते, पटोऽनुभूयत' इति सर्वे पदार्थाः सत्ताऽनुभूतिघटित एव दृश्यन्ते। अत्रसर्वासु प्रतिपत्तिपु सन्मात्रमनुवर्तमानं दृश्यत इतितदेव परमार्थः, विशेपास्तुव्यावर्तमानतयाऽपरमार्थाः—रज्जुसर्पादिवत्।

यथा रज्जुरधिष्ठानतयाऽनुवर्तमाना सती परमार्था, व्यावर्तमानाः सर्पभूदलनाम्बुधारादयोऽपरमार्थाः । ननु च– रज्जुसर्पादौ रज्जुरियं न सर्प इत्यादिरज्ज्वाद्यधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञानेन बाधितत्वात् सर्पादेरपारमार्थ्यं; न व्यावर्तमानत्वात् । रज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्तमानतया किन्त्वबाधितत्वात् । अत्रत्वबाधितानां घटादीनां कथमपारमार्थ्यम् ? उच्यते– घटादौ दृष्टाव्यावृत्तिः सा किं रूपेति विवेचनीयम्– किं घटोऽस्तीत्यत्र पटाभावः ? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन बाधितत्वम् । अतो बाधफलभूता विषयनिवृति-र्व्यावृत्तिः सा व्यावतमानानामपारमार्थ्यं साधयति, रज्जुवत् सन्मात्रमबाधितमनुवर्तते । तस्मात् सन्मात्रातिरेकि सर्वम पारमार्थम् । प्रयोगश्च भवति– सत् परमार्थम्, अनुवर्तमान-त्वात्, रज्जु सर्पादौ रज्ज्वादिवत् । घटादयोऽपरमार्थाः व्यावर्त-मानत्वात् रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिवदिति । एवं सत्यनुवर्तमाना-नुभूतिरेव परमार्था सैव सती ।

अनुवाद अद्वैती:–किञ्च–(यह) घट है, यह पट है, [मैं] घट का अनुभव कर रहा हूं; मैं पट का अनुभव कर रहा हूं इन सभी अनुभवों में जितने घट, पटआदि पदार्थ हैं, उन सबों का अनुभव सत्ता तथा अनुभूति से युक्त ही होता है; [इन सबों को सत्ता एवं अनुभव से रहित केवल वस्तुमात्र का अनुभव नहीं होता है । इन सभी प्रत्यक्षानुभवों में केवल सता-

मात्र की अनुवृत्ति देखी जाती है, अतएव सत्ता ही पारमार्थिक [सत्य] है, उसके अतिरिक्त जितने [घट, पट, आदि] विशेष है, वे तो व्यावर्तित होते [हटते रहते] हैं अतएव अपरमार्थ [मिथ्या] हैं। [ये घट पटादि उसी तरह से व्यावृत्त होने के कारण मिथ्या हैं] जिस तरह रस्सी में प्रतीत होने वाला तथा अधिष्ठान ज्ञान से- व्यावृत्त होने वाला सर्प मिथ्या है; जिस तरह भ्रम के आधार रूप से प्रतीत होने वाली एवं सदाऽनुवर्तित होते रहने वाली रस्सी सत्य एव परमार्थ है, । और भ्रम काल में रस्सी में ही प्रतीत होने वाले और रस्सी का ज्ञान हो जाने पर] व्यावृत्त [समाप्त] हो जाने वाले सर्पभूदलन [जमीन में फटी हुई दरार], जलधारा आदि अपरमार्थ हैं. [उसी तरह सभी अनुभावों में अनुवर्तित होने वाली केवल सत्ता ही परमार्थ है, और उसमें विशेष रूप से प्रतीत होने वाले घटपट आदि विशेषतो व्यवर्तित होने के कारण अपरमार्थ हैं।]

विशिष्टाद्वैती:—प्रश्न है कि—रस्सी आदि में जो भ्रम के कारण सर्प की प्रतीति होती है, उस में, यह रस्सी है, सर्प नहीं हैं। इत्यादि रूप से रस्सी आदि अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से बाधित होने के कारण, सर्प इत्यादि मिथ्या सिद्ध होते हैं; न कि व्यावर्तित होने के कारण मिथ्या सिद्ध होते हैं। रस्सी आदि को परमार्थ [सत्य] इस लिए माना जाता है कि उनका बाध नहीं होता है, अनुवर्तित होते रहने के कारण [उसे सत्य] नहीं [माना जाता है]। इस प्रत्यक्ष के द्वारा भिन्न प्रतीत होने वाले घट आदि तो बाधित होते नहीं हैं, फिर उनको [घटादि को मैं] मिथ्या [अपरमार्थ] कैसे माना जाय ?

अद्वैती:— घट इत्यादि का जिस समय ज्ञान होता है, उस समय पट इत्यादि व्यावृत्त हो जाते हैं। [अर्थात् उस समय उनकी प्रतीति नही होती है] वह घट आदि विषयों की जो व्यवृत्ति है, उसका क्या स्वरूप है ? इस बात का विवेचन करना चाहिए। क्या आप [विशिष्टाद्वैती] यह मानते हैं कि घट है; इस अनुभव में पट आदि का अभाव रहता है। [यदि हाँ तो फिर] इससे घट है, इस कथन से पट इत्यादि का बाधितत्व भी सिद्ध ही हो गया। अतएव बाध ही जिसका फल है, ऐसी विषय की निवृत्ति ही व्यावृत्ति है, [यही मानना चाहिये] और वह व्यावृत्ति ही व्यावर्तित होने वाली वस्तुओं के अपारमार्थ्य को सिद्ध करती है। [जिस तरह सर्पादि भ्रम का अधिष्ठान भूत] रस्सी [यथार्थ ज्ञान होने पर भी] अनुवर्तित होती रहती है उसी तरह सत्ता भी सदा अनुवर्तित होती रहती है। अतएव यह सिद्ध होता है कि— सत्ता मात्र को छोड़कर उससे भिन्न सब कुछ अपरमार्थ है।

इस कथन के आधार पर निम्न प्रकार का अनुमान किया जाता है–[१] सत् ही परमार्थ है; क्योंकि वह अनुवर्तित होता रहता है; रस्सी सर्प आदि में अनुवर्तित होते रहने वाले रस्सी आदि के समान। [२] ज्ञान में विशेषण रूप से प्रतीत होने वाले घट आदि अपरमार्थ हैं, क्योंकि वे व्यावर्तित होते रहते हैं, रस्सी आदि अधिष्ठानों में प्रतीत होने वाले सर्प आदि के समान। [अब प्रश्न यह उठता है अद्वैती विद्वान् तो ज्ञानमात्र को ही परमार्थ मानते हैं तो, फिर

यहाँ वे सन्मात्र के पारमार्थ्य की सिद्धि कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में अद्वैती विद्वान् कहते हैं— एवं सति० इत्यादि] उपर्युक्त अनुमानों से सिद्ध होता है कि सदा अनुवर्तित होते रहने वाली अनभूति [ज्ञान] ही परमार्थ है, वही सत् शब्द से कही जाती है।

॥ स्वयं प्रकाश अनुभूति ही सत् शब्द वाच्य है ॥

मू०— ननु च— सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततोभिन्नम्। नैवम्: भेदोहि प्रत्यक्षविषयत्वाद् दुर्निरूपत्वाच्च पुरस्तादेव निरस्तः। अत एव सतोऽनुभूतिविषयभावोऽपि न प्रमाणपदवीमनुसरति, तस्मात् सदनुभूतिरेव। सा च स्वतः सिद्धा, अनुभूतित्वात्। अन्यतः सिद्धौ घटपटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः। किञ्चानुभवापेक्षाचानुभूतेर्न शक्या कल्पयितुम्; सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्। नह्यनुभूतिवर्तमाना घटादिवदप्रकाशा दृश्यते येन परायतप्रकाशाभ्युपगम्येत।

अनुवाद— विशिष्टाद्वैती:— यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि सत्तामात्र अनुभूति का विषय है (क्योंकि वह अनुभूति के द्वारा जाना जाता है, जो जिसके द्वारा जाना जाता है वह उसका विषय होता है, और जो जिसका विषय होता है वह उससे भिन्न होता है अतएव वह] अनुभूति से भिन्न है। [फिर आप अनुभूति और सत्तामात्र को एक कैसे मान सकते हैं ?)

अद्वैती— आप ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि भेद के

प्रत्यक्ष का विषय होने; तथा उसका निरूपण न हो सकने के कारण उसका (भेद का) पहले के "भेदोनाम" इत्यादि अनुच्छेद में खण्डन किया जा चुका है। अतएव सत्तामात्र अनुभूति का विषय है [इस प्रकार का विषय विषयी भाव भी अप्रमाणिक [भ्रान्ति सिद्ध] है इस तरह सत्तामात्र अनुभूति ही है। वह अनुभूति स्वयं प्रकाश है, क्योंकि अनुभूति है। (जो अनुभूति नहीं होता वह स्वयं प्रकाश नहीं होता है, घट आदि के समान।) अनुभूति की अन्य साधन से सिद्धि (पर प्रकाश) मानने पर वह भी उसी तरह से अनुभूति से भिन्न सिद्ध होगी जिस तरह (पर प्रकाश) घट आदि।

किञ्च—(यदि यहाँ पर विशिष्टाद्वैती विद्वान् यह कहें कि अनुभूति भले ही दूसरे प्रमाणों का विषय नहीं बने किन्तु वह अनुभूति का तो विषय बन ही सकती है, अतएव अनुभूति के परप्रकाशत्व का अनुमान इस तरह से किया जा सकता है—अनुभूति पर प्रकाश है; क्योंकि घट आदि के समान प्रकाशित होती है तथा उसकी प्रतीति होती है तो यह भी कहना ठीक नहीं है) अनुभूति को दूसरे अनुभव की अपेक्षा होती यह कल्पना नहीं की जा सकती हैं; क्योंकि वह अपनी सत्ता मात्र से प्रकाशित होती रहती है। ऐसा कभी नहीं होता है कि अनुभूति (ज्ञान) रहे और उसकी प्रतीति (अन्धकार में पड़े हुए तथा नहीं प्रतीत होने वाले) घट आदि के समान नहीं हो; जिसके कारण अनुभूति को पराधीनप्रकाश (पर प्रकाश) माना जा सके। (क्योंकि वही वस्तु परप्रकाश मानी जाती है, जो रहकर भी कभी प्रतीत हो और कभी न

प्रतीत हो। जैसे–घट कभी अन्धकार आदि के कारण नहीं भी प्रतीत होता है, अतएव वह परप्रकाश है। अनुभूति तो ऐसी है नहीं कि वह रहे और न प्रतीत हो; अतएव वह स्वयं प्रकाश है।)

टिप्पणी—

सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्—यह वाक्य अनुभूति के 'स्वयं प्रकाशत्व' प्रतिज्ञा का साधक; हेतु वाक्य है। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि सुख आदि भी अपनी सत्ता से प्रकाशित होते रहते हैं, अतएव उन्हें भी अनुभूति रूप मानना चाहिये, तो इसका उत्तर यह है कि हेतु वाक्य में "सुखादि व्यतिरिक्तत्वे सति" यह विशेषण अभिप्रेत है, अतएव हेतु में असिद्धत्व की शंका नहीं की जा सकती है। साथ ही विशिष्टाद्वैती के मत में तो सुख आदि के ज्ञान के अवस्था विशेष होने के कारण वे ज्ञान स्वरूप ही हैं अतएव यहां पर असिद्धत्व दोष हेतु में नहीं आ सकता है।

॥ भाट्टमीमांसकों का अनुभूति का अनुमेयत्व समर्थन ॥

मूल—अथैवं मनुषे–उत्पन्नायामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते, घटोऽनुभूयत इति। नहि कश्चिद् घटोऽयमिति जानन् तदानीमेवाविषयभूतामनिदम्भावामनुभूतिमप्यनुभवति। तस्माद् घटादिप्रकाशनिष्पत्तौ चक्षुरादिकरण सन्निकर्षवदनुभूतेः सद्भाव एव हेतुः। तदनन्तरमर्थगतकादाचित्क प्रकाशातिशयलिङ्गेनानु-

भूतिरनुमीयते । एवं तह्य नभूते रजडाया अर्थवज्जडत्वमापद्यत इति चेत् ; किमिदमजडत्वं नाम ? न तावत् स्वसत्तायाः प्रकाशाव्यभिचारः, सुखादिष्वपि तत् संभवात् ; नहि कदाचिदपि सुखादयः सन्तो नोपलभ्यन्ते ; अतोऽनुभूतिः स्वयमेव नानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽङ्गुल्यग्रस्य स्वात्मस्पर्शवदशक्यत्वादिति ।

अनुवाद—भाट्ट मीमांसक—यदि यह कहें कि—"घट प्रतीत हो रहा है" इत्यादि अनुभवों में अनुभूति के उत्पन्न हो जाने पर भी केवल विषय की ही प्रतीति होती है, ज्ञान की नहीं। कोई भी 'यह घट है' इस प्रकार से जानता हुआ व्यक्ति उसी समय में विषय (घटादि) से भिन्न तथा 'यह–यह' इस रूप से नहीं प्रतीत होने वाली अनुभूति का भी अनुभव नहीं करता है । इसलिए घट आदि के प्रकाश (ज्ञान) आदि की निष्पत्ति (उत्पत्ति) में जिस तरह चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष कारण होता है, उसी तरह ज्ञान में अनुभूति (ज्ञान) का सद्भाव ही कारण है । इसके पश्चात् विषय में रहने वाला कादाचित्क (कभी रहने वाला तथा कभी नहीं रहने वाला) प्रकाश की अतिशयता रूपी साधन के द्वारा अनुभूति का अनुमान होता है । (यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि तब तो अनुमेय मानने पर) अजड़ अनुभूति भी विषयों के समान जड़ हो जायेगी । (तो–इसके उत्तर में हमें यह पूछना है कि) यह (अनुभूति के) अजड़त्व का क्या स्वरूप है ? (अर्थात् उपर्युक्त अनुमान में हेतु रूप से कहा गया स्व सत्तयैव प्रकाशमानत्व रूप है ? अथवा

साध्य रूप से जिसे पहले बतलाया गया है वह स्वयमेव अपने लिए प्रकाशित होते रहना ही अजड़त्व है। यदि अपनी सत्ता से ही विद्यमान दशा. में प्रकाशित होते रहना मानो तो उसमें यह पूछना है क्या स्वसत्तयैव प्रकाश मानत्व का अर्थ उत्पत्ति काल में भी प्रकाशित होते रहना है ? अथवा उत्पत्ति के पश्चात् प्रकाश का व्यभिचार न होना है ? पहले पक्ष को तो इसलिए नहीं माना जा सकता है कि उत्पन्न होने पर भी अनु- भूति की अनुभूति नहीं होती है, केवल विषय की ही प्रतीति होती है यदि उत्पत्ति क्षण के पश्चात् प्रकाश का व्यभिचरित न होना ही अनुभूति का अजड़त्व है, तो ऐसा मानने पर भी अनैकान्तिकत्व नामक दोष होगा। क्योंकि सुख आदि में भी ऐसा सत्तयैव प्रकाश मानत्व पाया जाता है। ऐसा कभी भी नहीं पाया जाता है कि सुख आदि हों और उनकी प्रतीति न होती हो। (हेतु के असिद्ध एवं अनैकान्तिक इन दो हेत्वाभासों से युक्त होने के कारण) यह भी नहीं माना जा सकता है कि अनुभूति स्वयं ही अनुभूत होती है। जिस तरह अंगुलि का अग्र भाग सभी स्वेतर वस्तुओं को छूता है, किन्तु वह अपने को नहीं छू पाता है, उसी प्रकार अनुभूति का स्वयम्, अपने लिए प्रकाशित होना अशक्य है।

टिप्पणी

अर्थंव मनुपे—इस वाक्यांश के द्वारा अद्वैती विद्वानों द्वारा स्वीकृत ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व का खण्डन अभिप्रेत है। 'अहं जानामि' इस प्रकार की अनुभूति में ज्ञा धातु का जो अर्थ है, वही ज्ञान है। उस ज्ञान को अद्वैती एवं विशिष्टाद्वैती विद्वान् स्वयं प्रकाश मानते

हैं। किन्तु भाट्टमीमांसक एवं नैयायिक विद्वान् ज्ञान को परप्रकाश मानते हैं। नैयायिक एवं वैशेषिक ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु भाट्टमीमांसक ज्ञान को अनुमेय मानते हैं। नैयायिक विद्वानों का कहना है कि उत्पन्न होने के बाद ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है। उनका कहना है कि प्रथम क्षण में 'यह घट है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। उस समय वह ज्ञान स्वयं नहीं प्रकाशित होता है, किन्तु तदुत्तर क्षण में 'मैं घट को जानता हूं' इस तरह से पूर्वक्षण में उत्पन्न ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के जो विशेष गुण हैं, उन सबों का मानस प्रत्यक्ष ही होता है।

किन्तु नैयायिकों का यह मत इसलिए उचित नहीं है कि नैयायिक सुख दुःख आदि के ही समान ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। दुःख-सुख आदि जो पदार्थ है; वे अबुभुत्सिग्राह्य है। अर्थात् जानने की इच्छा न होने पर भी उनका ज्ञान होता ही रहता है, इसी तरह ज्ञान की भी स्थिति होगी, जानने की इच्छा न होने पर भी उनका ज्ञान होता रहेगा। फलतः ज्ञान भी अबुभुत्सितग्राह्य होगा। यही नहीं घट ज्ञान होने पर उसका मानस प्रत्यक्ष रूपी ज्ञान होगा। वह मानस प्रत्यक्ष रूपी ज्ञान भी अबुभुत्सितग्राह्य होने के कारण दूसरे मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होगा वह भी तीसरे मानस प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होगा। इस तरह पूर्व-पूर्व मानस प्रत्यक्ष का उत्तरोत्तर मानस प्रत्यक्ष की धारा चल पड़ेगी। तद्व्यतिरिक्त विषयों के ज्ञान का अवकाश ही नहीं मिलेगा। अतएव ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना जा

सकता है। यहां पर यदि नैयायिक विद्वान् यह मानें कि जिसका मानस प्रत्यक्ष होता है, उसके जानने की इच्छा होने पर ही, ज्ञान ह'ता है, तो यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। किसी वस्तु को जानने की इच्छा तब होती है जब कि वह सामान्यतः ज्ञात हो और विशेषतः अज्ञात हो। ज्ञान और सुख-दुःख इत्यादि पदार्थ यदि सामान्य रूप से पहले विदित हो जायें, तभी उनको विशेष रूप से जानने के लिए इच्छा हो सकती है, जानने की इच्छा होने पर ही वे विदित हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्यतः ज्ञान होने के पश्चात् सुख दुःख, ज्ञान आदि को जानने की इच्छा होगी और जानने की इच्छा होने पर वे विदित होंगे; इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा। और इस अन्योन्याश्रय दोष के द्वारा ज्ञान के बुभुत्सित-ग्राह्य वाद का खन्डन हो जाता है। इस तरह नैयायिक सम्मत ज्ञान का परप्रकाशत्ववाद अत्यन्त हेय होने के कारण यहाँ पर भाट्टमीमांसकों के अभिमत ज्ञानानुमेयत्ववाद का ही अनुवाद किया जा रहा है।

भाट्टमीमांसकों के ज्ञानानुमेयवाद का स्वरूप इस प्रकार है— भाट्टमीमांसक कहते हैं कि ज्ञान स्वयं प्रकाश नहीं है। बल्कि ज्ञान के द्वारा विषय में उत्पन्न होने वाले प्रकाशरूपी धर्म को देखकर ज्ञान का अनुमान होता है और इसी अनुमिति के द्वारा ज्ञान ज्ञात होता है। ज्ञान के द्वारा ज्ञान के विषय (ज्ञेय) में जो एक धर्म उत्पन्न होता है उसे प्रकाश, प्राकट्य ज्ञातता आदिशब्दों से अभिहित किया जाता है। इस प्रकाश के द्वारा उसके कारणीभूत ज्ञान का उसी प्रकार से अनुमान

किया जाता है, जिस प्रकार सुख आदि कार्यों को देखकर उनके कारणीभूत पुण्य आदि का अनुमान किया जाता है। इसी का अनुवादअर्थैवं मनुपे इत्यादि वाक्य से किया जाता है।

अर्थगत कादाचित्क प्रकाशातिशयलिङ्गेन— इस वाक्य का आशय यह है कि देखा जाता है कि घटादि विषयों का प्रकाश (ज्ञान) सर्वदा नहीं होता है, बल्कि कभी-कभी ही होता है, और देखा जाता हैं कि जो सर्वदा नहीं होता है, वह कार्य होता है। घटादि का प्रकाश (ज्ञान) भी कादाचित्क होने के कारण कार्य है । किञ्च जो कार्य होता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है, अतः कार्य होने के कारण घटादि का प्रकाश (ज्ञान) का भी कोई न कोई अवश्य होगा । वह कारण ज्ञान ही हैं । अतएव घटादिगत प्रकाशातिशय साधन के द्वारा उसके प्रकाशक ज्ञान के सद्भाव का अनुमान किया जाता हैं।

तदनन्तरमित्यादि:-भाट्ट मीमांसकों का यह कहना है कि जब हम घटादि का साक्षात्कार करते हैं उस समय घटादि विषयों में एक तरह का प्रकाश उत्पन्न होता है, उस विषयगत प्रकाश के द्वारा स्वगत तो वस्तु के ज्ञान का अनुमान किया जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विषयगत प्राकट्य के द्वारा स्वागत अनुभूति का अनुमान कैसे किया जा सकता है? तो इसका उत्तर है कि, चूंकि ज्ञान सदा अपने आश्रय के लिए प्रकाशित होता है अतएव उसका अनुमान संभव है । फिर भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान के होने के बाद विषय में प्रकाश होता है तो फिर यह अनुमान होना चाहिये कि मैंने घट का अनुभव किया,

किन्तु अनुभव तो होता है कि मैं घट का अनुभव कर रहा हूं; यह काल का विपर्यास क्यों ? तो इसका उत्तर तदनन्तरमित्यादि वाक्य से अभिप्रेत है । इसका आशय है कि अनुमान के घट ज्ञानोत्तर कालिक होने पर भी वर्तमानत्व का व्यय देश तीन तरह से उत्पन्न होता है ।[१]अनुमान अनुभव के अव्यवहित उत्तर क्षण में हो जाता है, अतएव काल की अत्यन्त आसन्नता के कारण अनुभव का वर्तमान व्यपदेश होता है । [२] संस्कार भूयस्त्व के कारण भी व्याप्ति आदि के ग्रहण में विलम्ब न होने के तथा अनुभव का वर्तमान व्यपदेश उत्पन्न होने के कारण अनुभव का वर्तमान व्यपदेश उत्पन्न होता है । किञ्च अनुभव एवं अनुमान का कालिक अन्तराय अत्यन्त अल्प होने के कारण उत्पलपत्रशतवेधन्याय से वर्तमानत्व व्यपदेश सम्भव है ।

एवं तर्हि इत्यादि--भाट्ट मीमांसक ज्ञान को प्राकट्यानुमेय मानते हैं, उसपर अद्वैती विद्वानों का कहना है कि यदि अनुभूति भी परप्रकाश हो जायेगी तो फिर, घटादि के तरह जड़ हो जायेगी । दूसरी बात यह कि विशिष्टाद्वैती विद्वान भी ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानते हैं; उनके मत में क्या स्थिति होगी ? तो इसका उत्तर है कि विशिष्टाद्वैती के ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व का अर्थ है कि ज्ञान अपने अश्रयभूत आत्मा के प्रति स्वयं प्रकाशित होता रहता है, साथ ही देखा जाता है कि अतीत कालिक अनुभवों का हम स्मरण करते हैं तथा अनागत कालिक अनुभव का अनुमान करते हैं अतएव एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय भी बनता है । अतः हम ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व की व्युत्पत्ति "स्वाश्रयं प्रति स्वं स्वेनैव प्रकाशान्तर निरपेक्ष प्रकाशकत्वम्" है । किन्तु अद्वैती विद्वान् ऐसा तो मानते

नहीं है, वे तो अनुभूति के स्वयं प्रकाशत्व का अर्थ 'स्वेनैव स्वस्मै प्रकाशमानत्वम्' मानते हैं। उनका यह कथन उसी तरह व्याहत है, जिस तरह किसी वस्तु का समकाल में कर्मत्व एवं कर्तृत्व व्यपदेश व्याहत होता है।

।। ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व का प्रतिपादन ।।

मूल—तदिदमनाकलितानुभव विभवस्य स्वमति विजृम्भितम्। अनुभूतिव्यतिरेकिणो विषय धर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः उभयाभ्युपेतानुभूत्यैवाशेष व्यवहारोपपत्तौ प्रकाशाख्य धर्मकल्पनानुपपत्तेश्च अतो नानुभूतिरनुमीयते, नापि ज्ञानान्तरसिद्धा; अपितु सर्वं साधयन्त्यनुभूतिः, स्वयमेव सिद्धयति। प्रयोगश्च—अनुभूतिरनन्याधीनस्वधर्मव्यवहारा, स्व संबन्धादर्थान्तरे तद्धर्मव्यवहारहेतुत्वात्, यः स्वसंबन्धादर्थान्तरे यद्धर्म व्यवहार हेतुः स तयोः स्वस्मिनन्याधीनो दृष्टः; यथा रूपादिश्चाक्षुषत्वादौ। रूपादिर्हि पृथिव्यादौ स्वसंबन्धाच्चाक्षुषत्वादि जनयन् स्वस्मिन् न रूपादि संबन्धाधीनश्चाक्षुषत्वादौ। अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे च स्वयमेव हेतुः।

अनुवाद—अद्वैती–तो यह उपर्युक्त कथन अनुभव के ऐश्वर्य को न जानने वाले (भाट्ट मीमांसक) का कथन उसकी अल्प बुद्धि की कल्पना का उन्मेष

मात्र है। (क्योंकि मैं घट को जानता हूं इत्यादि अनुभवों में) अनुभूति को छोड़कर जिस तरह विषय (घटादि के धर्म रूप से) रूप आदि की उपलब्धि होती है, उसी तरह से (उसके) धर्म रूप से प्रकाश (नामक वस्तु की) उपलब्धि नहीं होती । (साथ ही जिसे) हम और भाट्ट मीमांसक (अथवा सिद्धान्ती) दोनों मानते हैं उस अनुभूति के ही द्वारा सारे व्यवहारों के सम्पन्न होने पर उसके एक प्रकाश नामक धर्म की कल्पना का कोई औचित्य नहीं है । अतएव (जैसा कि भाट्ट मीमांसक मानते हैं उस तरह से प्राकट्य लिङ्ग के द्वारा) अनुभूति का अनुमान नहीं किया जाता है । किञ्च–उसकी सिद्धि दूसरे ज्ञानों के द्वारा भी नहीं होती है; बल्कि (स्वेतर समस्त पदार्थों की प्रकाशिका अनुभूति स्वयमेव प्रकाशित होती है । यहाँ अनुमान भी (निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।) अनुभूति का अपना धर्म तथा अपना व्यवहार स्वाधीन हैं; क्योंकि अपने सम्बन्ध मात्र से वह दूसरी वस्तुओं में उस(प्रकाश)धर्म और उस व्यवहार का कारण होती है। देखा जाता है कि जो अपने सम्बन्ध से वस्त्वन्तर में जिस धर्म और जिस व्यवहार का कारण होता है, वह उस धर्म और व्यवहार के विषय में स्वाधीन होता है। जैसे–रूप आदि चाक्षुपत्व आदि (धर्मों तथा व्यवहारों) के विषय में स्वतन्त्र हैं। क्योंकि रूप आदि अपने सम्बन्ध मात्र से पृथिवी आदि में चाक्षुपत्व आदि धर्मों एवं व्यवहारों को उत्पन्न करते हुए अपने में चाक्षुपत्व आदि धर्मों तथा व्यवहारों के लिए रूप आदि सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं करते हैं । इसीलिए अनुभूति अपने प्रकाशमानत्व रूप धर्म के लिए (तथा अनुभूति) प्रकाशित होती है; इस व्यवहार के लिए स्वयं स्वतन्त्र होने के कारण हेतु है ।

टिप्पणी–

तदिदमित्यादि–वाक्य में 'अनाकलितानुभवविभवस्य' पद का अभिप्राय यह है कि अनुभव के दो प्रकार के ऐश्वर्य हैं। [१] यह स्वेतर समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है तथा अपने प्रकाशित होने के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है। [२] भाट्ट मीमांसक यह मानते हैं कि वस्तुओं का अनुभव होने पर उसके द्वारा वस्तु में एक प्रकार का धर्म उत्पन्न होता है। उस धर्म को प्राकट्य कहते हैं। उस प्राकट्य के ही द्वारा 'यह प्रकाशित हो रहा है' इस प्रकार का व्यवहार होता है, उस व्यवहार को उत्पन्न करने में यह अनुभव ही समर्थ है। इस तरह अनुभव के इन दो ऐश्वर्यों को न जानने के कारण भाट्ट-मीमांसकों ने अपनी क्षुद्र बुद्धि के द्वारा उपर्युक्त प्रकार की कल्पना की है।

अनुभूति व्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य—का अभिप्राय यह है कि भाट्ट मीमांसक जिसे प्राकट्य मानते हैं, वह अनुभूति का धर्म न होकर विषय का धर्म है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि उस ज्ञातता, नामक धर्म का प्रत्यक्ष होता है कि नहीं। यदि उसका प्रत्यक्ष हो सकता है तो फिर उसकी उपलब्धि उसी तरह से दूसरों को भी होती जिस तरह ज्ञेय पदार्थों के रूपादि धर्मों की उपलब्धि होती है, यदि वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है तो फिर लिङ्ग ज्ञान के अभाव में उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि धर्म की उत्पत्ति के लिए धर्मों का होना अनिवार्य है। और आप यह मानते हैं कि प्रकाश लिङ्ग के

द्वारा ज्ञान का अनुमान होता है। ऐसी स्थिति में अतीत कालिक तथा अनागत कालिक वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव नहीं; क्योंकि अतीतकालिक और अनागतकालिक वस्तुओं की सत्ता तो होती नहीं है, ऐसी स्थिति में उनमें प्रकाशता उत्पन्न होगी ही नहीं। और प्रकाशता लिङ्ग के अभाव में अतीतानागत कालिक वस्तुओं का अनुमान भाट्ट मीमांसकों के मत में कैसे सम्भव है ? इसी बात को संवित्, सिद्धि नामक ग्रन्थ में इस प्रकार से कहा गया है—

"अतीतेनागते चार्थे कथं प्राकट्य संभवः।
नहि धर्मिण्यसत्येव धर्मः सम्भवमृच्छति ॥"

प्रयोगश्च—इत्यादि के द्वारा अद्वैती विद्वानों को अनुभूति के स्वयं प्रकाशत्व की सिद्धि के अनुकूल दो अनुमान अभिप्रेत हैं— (१) अनुभूति अपने व्यवहार के लिए स्वतंत्र है, क्योंकि वह अपने सम्बन्ध मात्र से स्वेतर समस्त व्यवहार्य वस्तुओं में अनुभव के व्यवहार का कारण है, अर्थात् अनुभूति के संबन्ध मात्र से तद्व्यतिरिक्त वस्तुओं में भी अनुभूतित्व का व्यवहार होता है। जो अपने सम्बन्ध मात्र से अर्थान्तर में जिस व्यवहार का कारण बनता है, वह अपने में उस व्यवहार के लिए स्वाधीन होता है। जैसे रूप आदि। रूप आदि के सम्बन्ध मात्र से पृथ्वी आदि में चाक्षुषत्व आदि का व्यवहार होता है। अतएव रूप आदि अपने में चाक्षुषत्व के व्यवहार के लिए स्वाधीन हैं। (२) अनुभूति अपने प्रकाशत्व रूप धर्म के लिए स्वाधीन हैं, क्योंकि उसके ही संबन्ध से किसी दूसरी वस्तु में प्रकाशत्व नामक धर्म आता है।

॥ अनुभूति नित्य है ॥

मूल– सेयं स्वयं प्रकाशानुभूतिर्नित्या च, प्रगभावाद्यभा–वात् । तदभावश्च स्वतः सिद्धत्वादेव । नह्यनुभूतेः स्वतः सिद्धायाः प्रागभावः स्वतोऽन्यतोवाऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिः स्वाभावमवगमयन्ती, सती तावन्नावगमयति । तस्याः सत्वे विरोधादेव तदभावोनास्तीति कथं सा स्वाभावमवगमयति ? एवमसत्यपि नावगमयति; अनुभूतिः स्वयमसती स्वाभावे कथं प्रमाणं भवेत् ? नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतेरनन्यगो-चरत्वात्, अस्याः प्रागभावं साधयत् प्रमाणम् 'अनुभूतिरियमिति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत्; स्वतः सिद्धत्वेन इयमिति विषयी कारानर्हत्वात्, न तत् प्रागभावोऽन्यतः शक्यावगमः; अतोऽस्याः प्रगभावाभावादुत्पत्तिर्न शक्यते वक्तुम्; इत्युत्पत्ति प्रतिवद्धाश्चा-न्येऽपि भावविकारास्तस्या न सन्ति ।

अनु०—(उपर अनुभूति का स्वयं प्रकाशत्व सिद्ध किया गया है। इस अनुच्छेद में अनुभूति को नित्य बतलाया जा रहा है।) उपर्युक्त स्वयं प्रकाश अनुभूति नित्य है क्योंकि उसके प्रगभाव आदि अभाव नहीं होते हैं। (यदि यह आप पूछें कि अनुभूति के प्रागभाव

आदि अभाव नहीं होते हैं; इसमें क्या प्रमाण है ? तो इसका उत्तर है कि) अनुभूति के स्वतः सिद्ध (स्वयं प्रकाश) ही होने के कारण उसके प्रागभाव आदि के अभाव की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि स्वयं प्रकाश अनुभूति अपने प्रागभाव आदि अभावों को न तो स्वयं और न तो दूसरे साधनों के द्वारा ही सिद्ध कर सकती है। (अनुभूति के प्रागभाव आदि अभावों की सिद्धि स्वतः असंभव है; इस बात को बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि) अनुभूति अपनी विद्यमानावस्था में अपने अभावों को बतलाती हुई भी नहीं बतला सकती है; क्योंकि जिस समय वह विद्यमान् रहेगी (उस समय स्वभाव) विरोध के ही कारण उसका (अनुभूतिका अभाव नहीं रह सकता है, इस प्रकार कैसे वह अपने अभाव को स्वयं बतला सकती है ?) इसी तरह वह नहीं रहकर भी वह अपने अभाव को नहीं बतला सकती हैं क्योंकि जिस समय अनुभूति नहीं रहेगी उस समय वह अपने अभाव में कैसे प्रमाण बन सकती है ?

(अनुभूति के प्रगभाव आदि अभावों को) दूसरे साधनों के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है क्योंकि अनुभूति किसी प्रमाण का विषय नहीं बनती है। (अनुभूति के प्रागभाव को ग्रहण करने वाले प्रमाण के लिये यह अपेक्षित होगा कि) वह अनुभूति के प्रागभाव को सिद्ध करते हुए 'यह अनुभूति है' इस तरह से अनुभूति को अपना विषय बनाकर उसके अभाव को सिद्ध करे। अनुभूति के स्वयं प्रकाश (स्वतः सिद्ध) होने के कारण उसको यह-यह इस रूप से विषय नहीं बनाया जा सकता है। अतएव अनुभूति के प्रागभाव को अनुभूति-व्यतिरिक्त साधन से

भी नहीं जाना जा सकता है। इसके प्रागभाव का अभाव होने के कारण उसकी उत्पत्ति भी नही मानी जा सकती है। इस तरह उत्पत्ति से संबद्ध वस्तुओं में पाये जाने वाले परिणाम आदि भावों के अन्य विकार भी उसमें नहीं हैं।

अनुभूति एक एवं आत्मा है।

मू०:— अनुत्पन्नेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहते-व्यापकविरुद्धोपलब्धेः। नह्यनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टम्। भेदादीनामनुभाव्यत्वेन च रूपादेरिवानुभूतिधर्मत्वं न सम्भवति; अतोऽनुभूतेरनुभव स्वरूपत्वादेवान्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नास्या धर्मः;यतो निर्धूतनिखिलभेदा संवित्। अतएव नास्याः स्वरूपातिरिक्त आश्रयोज्ञाता नाम कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपा सैवात्मा अजडत्वाच्च। अनात्मत्व व्याप्तं जडत्वं संविदि व्यवर्तमानमनात्मत्वमपि हि संविदो व्यावर्तयति ॥

अनुवाद— अनुभूति उत्पन्न नहीं होती है, अतएव उसमें नानात्व (भेद) भी नहीं है। क्योंकि उसमें नानात्व में व्यापक रूप से पायी जाने वाली उत्पत्ति के विरुद्ध अनुत्पत्ति धर्म पाया जाता है। ऐसा कहीं नहीं देखा जाता है कि जो उत्पन्न न होता हो और वह अनेक (नाना) हो। भेद आदि अनुभूति के धर्म नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे अनुभाव्य हैं, रूप आदि के समान। अतएव अनुभूति के अनुभव स्वरूप होने के ही कारण इसके (अनुभूति के) दूसरे (व्यवृत्ति आदि) भी धर्म नहीं हैं;

क्योंकि संवित् (शब्द से कही जाने वाली अनुभूति) में कोई भेद नहीं है । अतएव इस अनुभूति के स्वरूप से भिन्न कोई दूसरी ज्ञान के आश्रय-भूत ज्ञाता नाम की वस्तु नहीं है। इस तरह स्वयं प्रकाश स्वरूप अनुभूति ही आत्मा है; क्योंकि वह अजड़ है । आत्मा से भिन्न वस्तुओं में पाये जाने वाला जड़त्व) संविद् में न होने के कारण अनात्मत्व को भी संवित् से भिन्न सिद्ध करता है । (अतएव संवित् ही आत्मा है ।)

टिप्पणी:—

व्यापक विरुद्धोपलब्धेः— इस हेतु वाक्य का आशय यह है कि जो-जो नाना होता है, वह उत्पन्न अवश्य होता हैं । अनुभूति उत्पन्न नहीं होती है, अतएव वह नाना नहीं हैं । इस अनुमान के अनुकूल नानात्व व्यापक उत्पत्तिमत्व धर्म के विरुद्ध अनुभूति में अनुत्पत्ति नामक धर्म पाया जाता है। अन्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नास्या धर्मः— का अभिप्राय यह हैं कि अनुभूति चूंकि— विकार, नानात्व जडत्व आदि से रहित है अतएव उसमें नित्यत्व, एकत्व स्वयं प्रकाशत्व आदि भी धर्म नहीं हैं । अथवा अन्यशब्द से यहां पर व्यावृत्ति रूप धर्म कहा गया है। अतएव यहां पर यह अनुमान अभिप्रेत है कि— अनुभूति में व्यावृत्ति रूप भी धर्म नहीं है, क्योंकि वह अनुभव स्वरूप है । जिसमें व्यावृत्ति रूप धर्म पाया जाता है, वह अनुभूति नहीं होता है, जैसे घट आदि। निर्धूतनिखिलभेदा संवित्:— इस वाक्य में संवित् के सभी भेदों का निरास किया गया है, फलतः उसके विजातीय भेद का भी निरास हो गया । अतएव संवित् से विजातीय उसका ज्ञाता भी मिथ्या हैं । इस तरह

संवित् ही आत्मा सिद्ध होती है। अजडत्वाच्च– यह व्यतिरेकि हेतु है। उससे निम्न प्रकार का अनुमान अभिप्रेत है— संवित् ही आत्मा है; क्योंकि वह अजड़ है। जो आत्मा नहीं होता है वह जड़ होता है जैसे घाट आदि।

॥ ज्ञाता अहमर्थ आत्मा नहीं है ॥

मूल—ननु च–अहं जानामिति ज्ञातृता प्रतीतिसिद्धा। नैवम्–सा भ्रान्तिसिद्धा, रजततेव शुक्तिशकलस्य, अनुभूतेः स्वात्मनि कर्तृत्वायोगात्, अतो मनुष्योऽहमित्यत्यन्त बहिर्भूत मनुष्यत्वादि विशिष्टपिण्डात्माभिमानवज्ज्ञातृत्वमप्यध्यस्तम्। ज्ञातृत्वं हि ज्ञानक्रिया कर्तृत्वम्। तच्च विक्रियात्मकं जडं विकारिद्रव्याहंकार ग्रन्थिस्थमविक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथमिव सम्भवति? दृश्यधीनसिद्धित्वादेवरूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्मधर्मत्वम्। सुषुप्तिमूर्छादौ अहं प्रत्ययाभावेऽप्यात्मानुभव दर्शनेन नात्मनोऽहं प्रत्ययगोचरत्वम्। कर्तृत्वे अहं प्रत्यय-गोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जडत्व–पराक्त्वा-नात्मत्वादि प्रसङ्गोदुष्परिहर। अहं प्रत्ययगोचरात् कर्तृतया-प्रसिद्धाद् देहात् तत्क्रियाफलस्वर्गादेर्भोक्तुरात्मनोऽन्यत्वं प्रामाणि-कानां प्रसिद्धमेव। तथाहमर्थाज्ज्ञातुरपि विलक्षणः साक्षी प्रत्यगात्मेति प्रतिपत्तव्यम्।

अनुवाद—विशिष्टाद्वैती—यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि—'मैं जानता हूँ' इत्यादि अनुभवों में (आत्मा का) ज्ञातृत्व धर्म अनुभव से ही सिद्ध होता है। (अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा के ज्ञातृत्व इत्यादि धर्म नहीं हैं)

अद्वैती—आप ऐसा नहीं कह सकते हैं– [क्योंकि] वह प्रतीति-भ्रान्ति के कारण होती है। [वह उसी तरह से भ्रान्त प्रतीति है जिस तरह सीपी के टुकड़ों में रजतता [चाँदीपन] का ज्ञान [भ्रान्ति के कारण] होता है। चूँकि अनुभूति (रूप आत्मा) अपना कर्ता स्वयं नहीं हो सकती है। अतएव "मैं मनुष्य हूं" इत्यादि प्रतीतियों में (आत्मा से) अत्यन्त भिन्न मनुष्यत्वादि विशिष्ट शरीर में आत्माभिमान (जिस तरह से अध्यस्त ज्ञान है) उसी तरह से आत्मा में ज्ञातृत्व भी अध्यस्त ही है। ज्ञान क्रिया के आश्रयत्व (कर्तृत्व) को ज्ञातृत्व कहा जाता है और वह विकारयुक्त, जड़, विकार युक्तद्रव्य अहंकार की ग्रन्थि में विद्यमान रहता है। वह विकार रहित, साक्षी, ज्ञानमात्र आत्मा में कैसे रह सकता है। (यहाँ पर यह अनुमान भी हो सकता है।) कर्तृत्व आदि आत्मा के धर्म नहीं हैं, क्योंकि उनकी सिद्धि द्रष्टा (दृशि) के अधीन ही संभव है। रूप आदि के समान। किञ्च-सुषुप्ति एव मूर्छा आदि के समय में जब कि 'मैं' 'मैं' इस प्रकार से होने वाला ज्ञान नहीं होता है, उस समय भी आत्मा [ज्ञान] बना रहता है, अतएव पता चलता है कि आत्मा 'मैं' 'मैं' इस रूप से होने वाले ज्ञान का विषय नहीं बनता। यदि आत्मा को अहम् प्रत्यय ('मैं' 'मैं' इस प्रकार से होने

वाले ज्ञान) का विषय, तथा कर्तृत्व आदि धर्म से युक्त माना जाय तब तो फिर उसी प्रकार से उसमें जडत्व पराक्त्व, (स्वेतर के लिए प्रकाशित होने वाला) एवं अनात्मत्व आदि धर्मों का वारण नहीं किया जा सकता है जिस तरह से देह से (उन धर्मों का वारण नहीं किया जा सकता है। 'मै में' इस रूप से प्रतीत होने वाले ज्ञान का विषयभूत तथा कर्ता रूप से ज्ञात होने वाले शरीर से देह के द्वारा की जाने वाली क्रिया के फलभूत स्वर्ग आदि का भोग करने वाले आत्मा की भिन्नता प्रमाणों के जानकारों (दार्शनिक विद्वानों) को ज्ञात ही है। अतएव ज्ञाता अहमर्थ से भी भिन्न ही साक्षी प्रत्यक् रूप आत्मा है यही मानना चाहिए।

टिप्पणी—

कर्तृत्वे — इत्यादि वाक्य से निम्न प्रकार का अनुमान अभिप्रेत है— आत्मा न तो कर्ता है और न तो 'मैं मैं' इस प्रकार से होने वाली प्रतीतिका विषय है— क्योंकि वह अजड़, प्रत्यक् एवं आत्मा है; जो–जो कर्ता, एवं 'मैं मैं' इस प्रकार की प्रतीति का विषय बनता है, वह–वह; जड़, पराक् एवं अनात्मा होता है; शरीर के समान। पराक्त्वम्- जो दूसरे के लिए प्रकाशित होता है, अर्थात् जिसका उपभोक्ता दूसरा होता है उसे पराक् कहते हैं। (परस्मै अञ्चाति, गच्छाति, भासते इति पराक् तस्यभावः पराक्त्वम्।)आनात्मत्वम्–पुरुषार्थ के प्रति संबन्धी, देहका नियामक एवं व्यापक आत्मा है, अनात्मा ठीक इसके विपरीत होता है। अनात्मा के भाव के अनात्मत्व कहते हैं।

ज्ञातृत्व अहंकार ग्रंथि का धर्म है, आत्मा का नहीं

मूल—एवमविक्रियानुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यञ्जको जडोप्यहंकारः

स्वाश्रयतया तमभि व्यनक्ति। आत्मस्थतयाभिव्यंग्यञ्जनमभि-व्यञ्जकानां स्वभावः। दर्पण जल खण्डादिर्हि मुख-चन्द्रविम्ब-गोत्वादिकम् आत्मस्थतयाभिव्यनक्ति। तत् कुतोऽयं 'जानाम्यहम्' इति भ्रमः। स्वप्रकाशाया अनुभूतेः कथमिव तदभिव्यंग्यजडरूपाहंकारेणाभिव्यंग्यत्वमिति मा वोचः। रविकरनिकराभिव्यंग्यकरतलस्य तदभिव्यञ्जकत्वोपदर्शनात्' जालकरन्ध्रनिष्क्रान्तद्युमणिकिरणानाम् तदभिव्यंग्येनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशो हि दृष्टिचरः। यतोऽहं जानामीति ज्ञातायमहमर्थश्चिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्मोत एव सुषु-प्तिमुक्त्योर्नान्वेति। तत्रह्यहमर्थोल्लेखविगमेन स्वाभाविकानुभ-वमात्ररूपेणात्मावभासते। अत एव सुप्तोत्थितः कदाचित् "मामाप्यहं न ज्ञातवान्" इति परामृशति। तस्मात् परमा-र्थतो निरस्तसमस्तभेदविकल्पनिर्विशेषचिन्मात्रैकरसकूटस्थ नित्य-संविदेव भ्रान्त्या ज्ञातृज्ञेयज्ञानरूपविविधविचित्रभेदा विवर्तत इति तन्मूलभूताविद्यानिवर्हणाय नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते इति।

अनुवाद—अद्वैती-इस तरह से विकार रहित अनुभव स्वरूप ही (आत्मा का) प्रकाशक जड़ होने पर भी अहकार ही है और उस

(आत्मा) को अपने आश्रय रूप से प्रकाशित करता है। अभिव्यञ्जकों (प्रकाशकों) का यह स्वभाव होता है कि वे अपने प्रकाश्य वस्तुओं का प्रकाशन आत्मस्थ (अपने भीतर स्थित) रूप से ही किया करते हैं। (जैसा कि लोक में देखा जाता है कि ' दर्पण मुख को, जल चन्द्रबिम्ब को और खण्ड आदि (गोव्यक्ति , गोत्व आदि (जाति) को अपने भीतर ही प्रकाशित किया करते हैं। जड़ अहंकार के द्वारा ही आत्मा के अभिव्यञ्जित किये जाने के कारण 'मैं जानता हूँ" अर्थात् मैं ज्ञानाश्रय हूँ इस प्रकार का भ्रम होता है। यहाँ पर आप यह शंका नहीं कर सकते हैं कि–स्वयं प्रकाश अनुभूति का अभिव्यञ्जक जड़ स्वरूप अहंकार कैसे हो सकता है ? (क्योंकि देखा जाता है कि जालकरन्ध्र से किसी कक्ष में प्रवेश करने वाली स्वयं प्रकाश) सूर्य की किरणों का समुदाय का; जो किरणों द्वारा ही प्रकाश्य है, उस हथेली (करतल) के द्वारा (सूर्य की किरणों का) अभिव्यंजन होता है। गवाक्ष के छिद्रों से निकली हुई सूर्य किरणों का स्फुटतर (अधिक) अभिव्यञ्जन (प्रकाशन) सूर्य किरणों के द्वारा ही प्रकाश्य करतल के द्वारा होता है। चूँकि 'मैं जानता हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला यह ज्ञाता अहमर्थ (अहंकार) ज्ञानमात्र आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है अतएव उसकी अनुभूति सुषुप्ति एवं मुक्ति की दशा में नहीं होती है। उन अवस्थाओं में अहमर्थ की अनुभूति के न रहने के कारण स्वभावतः ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव होता है; यही कारण है कि कभी-कभी सोकर उठा हुआ पुरुष यह परामर्श (अनुभव) करता है कि (आज मैं इस तरह सोया कि) अपने को भी नहीं जान पाया। अतएव जिसके सारे भेद रूपी विकल्प समाप्त हो गये

हैं, ऐसे सभी विशेषणों से रहित ज्ञान मात्र एक रस कूटस्थ एवं नित्य संवित् का ही, भ्रम के कारण ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान रूप अनेक आश्चर्य कर भेदों के रूप में विवर्त हो जाता है। इसलिए उक्त विवर्त के कारण भूत अज्ञान को दूर करने के लिए नित्य, शुद्ध, बुद्ध एव मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म एवं आत्मा (जीव के एकत्व ज्ञान के लिए ही सभी वेदान्तों का आरम्भ होता है। अर्थात् सभी वेदान्त प्रवृत्त हैं।

टिप्पणी —

एवम्विक्रिय–इत्यादि– अद्वैती विद्वानों का कहना है कि ज्ञान स्वरूप आत्मा यद्यपि स्वयं प्रकाश है, फिर भी वह जड़ अहंकार के द्वारा प्रकाशित होता है। इस वाक्य में 'जड़ोऽपि' में अपि शब्द का प्रयोग इस अर्थ को बतलाता है कि अहंकार जड़ होने के कारण अनुभूति के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है, फिर भी अहंकार अनुभूति का प्रकाशन किया करता है। चूँकि प्रकाशकों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने प्रकाश्य वस्तुओं का प्रकाशन अपने भीतर किया करते हैं अतएव अहमर्थ (अहंकार) भी ज्ञान मात्र आत्मा का प्रकाशन अपने भीतर किया करता है, यही कारण है कि वह 'मैं जानता हूँ' इत्यादि अनुभवों में ज्ञान के आश्रय रूप से प्रतीत होता है। किन्तु अहमर्थ का ज्ञानाश्रयत्व उसी तरह से भ्रान्ति पूर्ण है जिस तरह दर्पण का मुखाश्रयत्व। कहने का आशय यह है कि दर्पण देखने वाले व्यक्ति को प्रतीत होता है कि हमारा मुखड़ा दर्पण के भीतर है, किन्तु वास्तविक स्थिति तो ऐसी नहीं होती है। मुख तो दर्पण से बाहर ही रहा करता है। इसी तरह जल में चन्द्र

का विम्ब प्रतीत होता है, खण्ड–मुण्ड आदि गोव्यक्तियों में गोत्व आदि जाति की प्रतीति होती है किन्तु यह सारी स्थिति भ्रान्ति पूर्ण है। उसी तरह ज्ञाता अहमर्थ में ज्ञान की प्रतीति भ्रमपूर्ण है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि जड़ अहङ्कार स्वयं प्रकाश अनुभूति का प्रकाशक है, यह कैसे सम्भव है ? तो इसका उत्तर यह है कि लोक में भी देखा जाता है कि सूर्य की किरणें स्वयं प्रकाश हैं, और हथेली (करतल) उन किरणों का प्रकाश्य है। फिर भी जहाँ जालक रन्ध्र (खिड़की के छिद्र) से सूर्य की किरणें प्रवेश करती हों; वहाँ पर यदि हथेली लगा दिया जाय तो जिन किरणों की पहले प्रतीति नहीं होती है, उन किरणों की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है। इस तरह सिद्ध होता है कि जड़ अहकार भी स्वयं प्रकाश अनुभूति का प्रकाशक हो सकता है।

यतोऽहमित्यादि–किञ्च अहमर्थ आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है इसीलिए उसकी प्रतीति सुषुप्ति एवं मुक्ति में नहीं होती है। यही कारण है कि कभी-कभी सोकर जगने वाला व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि आज मैं इस तरह सोया कि अपने को भी नहीं जान सका। यदि अहमर्थ आत्मा का धर्म होता तो वह उस समय भी रहता। उस समय (सुषुप्तिकाल में) भी वह अवश्य अनुभूत होता। चूँकि नहीं अनुभूत होता है, इसलिए सिद्ध होता कि अहमर्थ आत्मा का धर्म नहीं है। क्योंकि जो जिसका धर्म होता है। वह उसका यावत्-काल व्यापी होता है।

तत्राह्यमर्थोल्लेख—इत्यादि वाक्य का आशय है कि स्वापकाल में अहमर्थ का अनुभव नहीं होता है। इस अर्थ का प्रतिपादन–'नाहं खल्वय

मेवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति अयमहमस्मि' अर्थात् स्वापकाल में, सोने वाला व्यक्ति 'यह नहीं जानता है कि मैं यह हूं' इस तरह से हूं इत्यादि यह श्रुति भी कहती है ।

'अहंकारं बलं दर्पं काम क्रोध परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

यह मुक्ति विषयिणी स्मृति भी बतलाती है कि जीव मुक्तावस्था में अहंकार बल, दर्प (घमण्ड) काम, क्रोध, परिग्रह (दान लेना । इन सबों का त्यागकर वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है । किञ्च-गीता के १३वें अध्याय में भगवान् ने अहंकार को क्षेत्र (शरीर) के अन्तर्गत बतलाते हुए कहा है-'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' । अतएव अहंकार आत्मा अथवा उसका धर्म न होकर मुमुक्षु पुरुष के द्वारा त्याज्य है ।

तस्मात् परमार्थत इत्यादि—इस वाक्य में संवित् (ज्ञान) को निरस्त समस्त भेदविकल्पनिर्विशेष कहकर उसके सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद के साथ-साथ ज्ञातृत्व, ज्ञेयत्व आदि भेदों का निरास किया गया है। चिन्मात्र कहकर उससे शून्यत्व की व्यावृत्ति की गयी है । कूटस्थ कहकर उसको सभी भ्रमों का अधिष्ठान तथा निर्विकार बतलाया गया है ।

विवर्तते—अद्वैती विद्वानों का यह कहना है कि वस्तुओं का अन्यथा भाव (दूसरे रूप में परिवर्तन) दो प्रकार से होता है– (१)

शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मैकत्वविज्ञान है। साथ ही अद्वैती विद्वानों ने जो मोक्षोपयोगी उपायोपेय तथा निवर्त्य बतलाया है, उन सबों का खण्डन करने के लिए सर्व प्रथम इस महासिद्धान्त में यह बतलाया गया है कि अद्वैती विद्वान् प्रोक्त बातें तर्काभास एवं प्रमाणाभास पर आधारित हैं, अतएव सात्त्विक विचारकों को चाहिये उनकी बातों पर ध्यान न दें)।

विशिष्टाद्वैती—उपर्युक्त उपनिषद् प्रतिपाद्य परमपुरुष के वरणोपयोगी गुण विशेष से रहित, अनादिकाल से प्रवृत्त पापवासना के कारण जिनकी सारी (मोक्षोपयोगी) बुद्धि मारी गयी है, जो पदों (तथा उनके समुदाय रूप) वाक्यों के स्वरूप तथा उनके अर्थों की वास्तविकता तथा प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों के स्वरूप तथा उनकी इतिकर्तव्यता (प्रतिपादन प्रकार) रूप सुन्दर न्याय के मार्गों से अपरिचित हैं; उनके द्वारा विकल्पों को बर्दास्त करने में असमर्थ कुतर्क के कल्क (दम्भ) द्वारा कल्पित है, अतएव न्यायानुकूल प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों के वृत्त (बोधन) के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले विद्वानों को उसे आदर नहीं देना चाहिये।

टिप्पणी—

तदिदमित्यादि—इस वाक्य में तत् शब्द का प्रयोग पूर्वपरामृष्ट के अर्थ में किया गया है। 'इदम्' शब्द के प्रयोग द्वारा उसका आसन्नभूतत्व सूचित किया गया है। औपनिषद परम पुरुष के द्वारा 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं विद्धि' इत्यादि उपनिषदुक्त परम पुरुष की सूचना दी गयी

विचार का आरम्भ अनावश्यक है। इसका खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वानों ने कहा है कि बन्ध अज्ञान मूलक होने के कारण रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प के समान प्रपञ्च भ्रम ज्ञान निवर्त्य है। अतएव उस ज्ञान की प्राप्ति के हेतुभूत वेदान्त वाक्यों का विचारारम्भ युक्ति संगत है। उस ज्ञान के प्रतिकूल होने के कारण कर्म विचार ब्रह्मविचार का पूर्वभावी (पूर्ववृत्त) नहीं हो सकता है। क्योंकि बन्धनिवृत्ति का उपाय 'आत्मैकत्व विज्ञान है, उपेय निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म है, तथा निवर्त्य मिथ्याभूत अज्ञान हैं। इन तीनों के लिये कर्म विचार अनावश्यक है।

महासिद्धान्त का आरम्भ

महासिद्धान्तः

मूल—तदिदमौयनिपदपरमपुरूपवरणीयताहेतुगुण विशेपविरहिणामनादिपापवासनादूपिताशेपशेमुपीकाणामनधि-गतपदवाक्यस्वरूपतदर्थ याथात्म्यप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्त-तदितिकर्तव्यतारूपसमीचीनन्यायमार्गाणां विकल्पासहविविध-कुतर्ककल्ककल्पितम् इति न्यायानुगृहीत प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्तयाथात्म्यविद्भिःरनादरणीयम्।

अनुवाद–(अद्वैती विद्वानों ने अपने महापूर्वपक्ष में बतलाया है कि ब्रह्मविचार में कर्मविचार का कोई उपयोग नहीं है। ब्रह्ममीमांसा

शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मैकत्वविज्ञान हैं। साथ ही अद्वैती विद्वानों ने जो मोक्षोपयोगी उपायोपेय तथा निवर्त्य बतलाया है, उन सबों का खण्डन करने के लिए सर्व प्रथम इस महासिद्धान्त में यह बतलाया गया है कि अद्वैती विद्वान् प्रोक्त बातें तर्काभास एवं प्रमाणाभास पर आधारित हैं, अतएव सात्त्विक विचारकों को चाहिये उनकी बातों पर ध्यान न दें)।

विशिष्टाद्वैती—उपर्युक्त उपनिषद् प्रतिपाद्य परमपुरुष के वरणोपयोगी गुण विशेष से रहित, अनादिकाल से प्रवृत्त पापवासना के कारण जिनकी सारी (मोक्षोपयोगी) बुद्धि मारी गयी है, जो पदों (तथा उनके समुदाय रूप) वाक्यों के स्वरूप तथा उनके अर्थों की वास्तविकता तथा प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों के स्वरूप तथा उनकी इतिकर्तव्यता (प्रतिपादन प्रकार) रूप सुन्दर न्याय के मार्गों से अपरिचित हैं; उनके द्वारा विकल्पों को बर्दास्त करने में असमर्थ कुतर्क के कल्क (दम्भ) द्वारा कल्पित है, अतएव न्यायानुकूल प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों के वृत्त (बोधन) के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले विद्वानों को उसे आदर नहीं देना चाहिये।

टिप्पणी—

तदिदमित्यादि—इस वाक्य में तत् शब्द का प्रयोग पूर्वपरामृष्ट के अर्थ में किया गया है। 'इदम्' शब्द के प्रयोग द्वारा उसका आसन्नभूतत्व सूचित किया गया है। औपनिषद परम पुरुष के द्वारा 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं विद्धि' इत्यादि उपनिषदुक्त परम पुरुष की सूचना दी गयी

विचार का आरम्भ अनावश्यक है । इसका खण्डन करते हुए अद्वैती विद्वानों ने कहा है कि बन्ध अज्ञान मूलक होने के कारण रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प के समान प्रपञ्च भ्रम ज्ञान निवर्त्य है । अतएव उस ज्ञान की प्राप्ति के हेतुभूत वेदान्त वाक्यों का विचारारम्भ युक्ति संगत है । उस ज्ञान के प्रतिकूल होने के कारण कर्म विचार ब्रह्मविचार का पूर्वभावी (पूर्ववृत्त) नहीं हो सकता है । क्योंकि बन्धनिवृत्ति का उपाय 'आत्मैकत्व विज्ञान है, उपेय निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म है, तथा निवर्त्य मिथ्याभूत अज्ञान है। इन तीनों के लिये कर्म विचार अनावश्यक है ।

महासिद्धान्त का आरम्भ

महासिद्धान्तः

मूल— तदिदमौयनिपदपरमपुरूपवरणीयताहेतुगुण विशेपविरहिणामनादिपापवासनादूपिताशेपशेमुपीकाणामनधि-गतपदवाक्यस्वरूपतदर्थ याथात्म्यप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्त-तदितिकर्तव्यतारूपसमीचीनन्यायमार्गाणां विकल्पासहविविध-कुतर्ककल्ककल्पितम् इति न्यायानुगृहीत प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्तयाथात्यभ्यविद्भिःरनादरणीयम् ।

अनुवाद–(अद्वैती विद्वानों ने अपने महापूर्वपक्ष में बतलाया है कि ब्रह्मविचार में कर्मविचार का कोई उपयोग नहीं है । ब्रह्ममीमांसा

कहकर यह बतलाया गया है कि ये महापूर्व पक्ष की बातें अत्यन्त हेय हैं। अतएव पूर्व पक्ष के उपन्यास कौशल के लिए अपने शिष्यों को भी उसकी शिक्षा नहीं देनी चाहिये।

॥ निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥

मूल—तथाहि निर्विशेषवस्तुवादिभिः निर्विशेषे वस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम्, सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्व प्रमाणानाम्। यस्तु 'स्वानुभव सिद्धम्' इति स्वगोष्ठीनिष्ठः समयः सोऽप्यात्मसाक्षिकसविशेषानुभवादेव निरस्तः। इदमहम्-दर्शमिति केनचिद् विशेषेण विशिष्ट विषयत्वात् सर्वेषामनुभवा-नाम्। सविशेषोप्यानुभूयमानोनुभवः केनचित् युक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्व-भावविशेषैर्निष्क्रष्टव्य—इति निष्कर्ष हेतुभूतैः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एवावतिष्ठते। अतः कैश्चिद् विशेषैर्विशिष्टस्यैव वस्तुनोन्ये विशेषा निरस्यन्त इति न क्वचिन्निर्विशेषवस्तुसिद्धिः।

अनुवाद—विशिष्टाद्वैती—कहने का आशय है कि निर्विशेष वस्तु [ब्रह्म] का प्रतिपादन करने वाले [अद्वैती विद्वान्] यह नहीं कह सकते हैं कि निर्विशेष वस्तु [ब्रह्म] में अमुक प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाण विशेषण विशिष्ट वस्तु को ही अपना विषय बनाते हैं। यदि यहां पर

वे कहें कि] हम निर्विशेष वस्तु की सिद्धि- अनुभव से मानते हैं तो आपका यह कथन अपनी ही गोष्ठी में शोभा देगा, क्योंकि वह भी आत्म साक्षिक होने के कारण विशेषण विशिष्ट होने के कारण खण्डित हो गया। [मैंने यह देखा] इस प्रकार से [जो आत्म साक्षिक अनुभव होते हैं] वे किसी न किसी विशेषण से विशिष्ट वस्तु को अपना विषय बनाते हैं; इस तरह सभी अनुभव अपना विषय सविशेष वस्तु को ही बनाते हैं। [कहने का आशय है कि स्वयं अनुभव भी विशेषण विशिष्ट वस्तु को ही अपना विषय बनाता है। यहां पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि] यद्यपि अनुभव का भी अनुभव सविशेष रूप से ही होता है फिर भी कुछ ऐसी युक्तियाँ हैं जिनके निष्कर्ष रूप से अनुभव की निर्विशेष रूप से सिद्धि होती है—(जैसे—अनुभव निर्धर्मक है; क्योंकि वह अनुभव स्वरूप है, जो अनुभव रूप नहीं होते हैं, वे निर्धर्मक नहीं होते हैं, जैसे घट आदि। तो इसका उत्तर यह है कि) जिस समय वस्तु का निष्कर्ष निर्विशेष रूप से निकाला जा रहा हो (उस समय) सत्तामात्र से भिन्न, अपने में (अनुभव में) असाधारण (व्यावर्तक) रूप से रहने वाले धर्म विशेषों (स्वभाव विशेषों) के द्वारा अनुभव का निष्कर्ष इस प्रकार से लेना चाहिये, अतएव निष्कर्ष के कारण बनने वाले सत्ता से अतिरिक्त अपने में रहने वाले असाधारण स्वभाव विशेषों के द्वारा सविशेष ही ब्रह्म (वस्तु) सिद्ध होता है। अतएव कुछ विशेषों से विशिष्ट वस्तु के ही अन्य विशेषणों का वारण तर्कों एव प्रमाणों से किया जाता है, अतएव कहीं भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है।

टिप्पणी—

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि महापूर्वपक्ष में सर्व प्रथम कुछ वेदान्त वाक्यों को उद्धृत करके निर्विशेष वस्तु की सिद्धि की गयी है, तदनन्तर उसके अनुकूल तर्कों को उपस्थित किया गयाहै; अतएव सिद्धान्ती को भी चाहिये था कि वे भी उसी क्रम से उसका खण्डन उपस्थित करते किन्तु ऐसा न करके यहाँ सर्व प्रथम यह बतलाया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं बन सकता है और इसके पश्चात् सविशेष ब्रह्म की सिद्धि के अनुकूल प्रमाणों को उपस्थित किया गया है। ऐसा क्यों ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वपक्षी मानते हैं कि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर शास्त्र प्रमाण बलवान् होता हैं। अतएव वे सर्वप्रथम वेदान्त वाक्यों को उद्धृत करके उसके पश्चात् अपने कथ्य की पुष्टि के लिए अनुकूल तर्कों को उपस्थित करते हैं। प्रबल रूप से अभिमत होने के कारण पूर्वपक्षी को सर्व प्रथम वेदान्त वाक्यों को उपस्थित करना उचित ही था। किन्तु सिद्धान्ती इस बात को तो नहीं मानता है कि प्रत्यक्ष से विरोध होने पर शास्त्र की प्रबलता होती है। अतएव सर्व प्रथम यह सिद्ध किया जाता है कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। पुनः उसके पश्चात् वेदान्त वाक्यों की व्याख्या की जायगी।

निर्विशेषवस्तुनीदम्—इत्यादि वाक्य का आशय है कि जिस तरह किसी प्रमाण से नहीं सिद्ध हो सकने के कारण आकाश पुष्प आदि

तुच्छ हैं, उसी तरह अप्रमाणिक होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म भी तुच्छ ही है। यहाँ पर यह अनुमान अभिप्रेत है—'निर्विशेष ब्रह्म तुच्छम्, अप्रमाणिकत्वात्, आकाश पुष्पवत् ।' यदि यहां पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि जो विशेष है उसे ही निर्विशेष मानते हैं, अतएव उसे अप्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है ! तो इसका उत्तर यह है कि धर्म के द्वारा धर्मी सविशेष होता है, और धर्मी के द्वारा धर्म सविशेष होता हैं; जो न तो किसी का धर्मभूत होता है, और न तो किसी का धर्मी होता है, वह अप्रामाणिक ही होता है।

(संवित्) सविशेष ही है।

मूल—धियो हि धीत्वं स्वप्रकशता च, ज्ञातुर्विषय प्रकाशन स्वभावतयोपलब्धेः । स्वापमदमूर्छासु च सविशेष एवानुभव, इति स्वावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । स्वाभ्युपगताश्च नित्यत्वादयो ह्यनेकविशेषाः सन्त्येव । ते च न वस्तुमात्रमितिशक्योपपादनाः; वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेद विवाददर्शनात् स्वाभिमततद्विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात् । अतः प्रामाणिक विशेषैर्विशिष्टमेव वस्त्विति वक्तव्यम् ।

अनुवाद—ज्ञान में ज्ञानत्व और उसकी स्वयं प्रकाशता इसलिए है कि [अपने आश्रयभूत ज्ञाता] के लिए विषयों का प्रकाशन करना

उसका स्वभाव है। स्वाप, मद एवं मूर्छा के समय में भी जो अनुभव होता है, वह सविशेष ही होता है, इस बात का प्रतिपादन हम अपने अवसर से[अहमर्थ के आत्मत्व प्रतिपादन के समय]अच्छी तरह से करेंगे। स्वयं अद्वैती विद्वानों द्वारा स्वीकृत ज्ञान की नित्यत्व आदि अनेक विशेताएं हैं ही। और यह नहीं कहा जा सकता है कि वे नित्यत्व आदि ज्ञान के स्वरूप मात्र ही हैं। उनको वस्तु का स्वरूप मानने पर भी ज्ञान के प्रकार के विषय में विचारकों का विवाद देखा जाता है। (बौद्ध ज्ञान को क्षणिक मानते हैं, आप (अद्वैती) नित्य मानते हैं। वैशेषिक आदि ज्ञान को अनेक एवं जड़ मानते हैं, आप ज्ञान को स्वयं प्रकाश एवं एक मानते हैं। नित्यत्व आदि को ज्ञान का स्वरूप तो वे सभी स्वीकार करते हैं किन्तु ज्ञान के प्रकार के विषय में आपका तत् तत् विचारकों से भेद है; अत नित्यत्व आदि को ज्ञान का स्वरूप नहीं माना जा सकता है) किञ्च-अपने अभिमत ज्ञान के प्रकार के भेदों द्वारा आप अपने मत का उपपादन भी करते हैं। (जैसे क्षणिकत्व वादी का खण्डन करके आप ज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। अतएव वह नित्यत्व तो वस्तु का धर्म ही होगा।) अतएव प्रामाणिक विशेष (जो न्याय तत्त्व के सम्यक् जानकार हैं) उन्हें सविशेष ही संवित् (वस्तु) को स्वीकार करना चाहिए।

टिप्पणी

धियो हि धीत्वम् इत्यादि वाक्य में धीत्वम् का अर्थ है विषयों को प्रकाशित करने के स्वभाव। स्वप्रकाशता का अर्थ है– अनन्याधीन

प्रकाशत्व। इन दोनों को पूर्वपक्षी ने महापूर्व पक्ष में साधन एवं साध्य रूप से बतलाया है। किन्तु ज्ञान के विषय प्रकाशकत्व एवं स्वयं प्रकाशत्व की सिद्धि तब ही संभव है जब कि उसे अपने आश्रय के प्रति नियमेन प्रकाशकान्तर निरपेक्ष होकर विषयों का प्रकाश करने वाला मान लिया जाय। स्वाभ्युपगताश्च इत्यादि—अद्वैती विद्वान् ज्ञान को नित्य, एक एवं ज्ञानस्वरूप मानते हैं। ये नित्यत्व आदि ज्ञान के धर्म ही माने जायेंगे। इनको वस्तु का स्वरूप आप भी इस लिए नहीं मान सकते हैं कि ज्ञान के स्वरूप को तो बौद्ध, वैशेषिक आदि भी स्वीकार करते है, किन्तु ज्ञान के प्रकार के विषय में बौद्धों का कहना है कि ज्ञान क्षणिक है, वैशेषिक ज्ञान को जड़ एवं अनेक मानते हैं। आप उनके मतों का खण्डन करके ज्ञान के एकत्व, नित्यत्व, अजडत्व आदि धर्मों की सिद्धि करते हैं। अतएव नित्यत्व आदि ज्ञान के धर्म ही हो सकते हैं।

शब्द प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है।

मूल— शब्दस्यतु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधान सामर्थ्यम्। पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः। प्रकृति प्रत्यययोगेनहि पदत्वम्। प्रकृतिप्रत्ययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थ प्रतिपादनमवर्जनीयम्। पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः।

पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेषवस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यान्न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम् ।

अनुवाद—(अद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष की अपेक्षा शब्द प्रमाण बलवान् होता है। उसी शब्द प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि होती है। अतएव सर्वप्रथम शब्द प्रमाण के निर्विशेष वस्तु साधकत्व का खण्डन किया जाता है)— विशेष करके शब्द प्रमाण का तो सविशेष वस्तु के ही अभिधान (बतलाने) में सामर्थ्य है। क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति दो तरह से होती है, पद रूप से तथा वाक्य रूप से। प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से पद बनता है। (क्योंकि 'सुप्तिङन्तं पदम्' यह सूत्र ही शब्द की पद संज्ञा करता है। इसका अर्थ है सुप् विभक्तिमान् एवं तिङ् विभक्तिमान् शब्दों की पद संज्ञा होती है। अत किसी भी पद में दो भाग अवश्य होते हैं— प्रकृतिभाग और प्रत्ययभाग।) प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ में भेद होने के कारण पद के ही विशिष्ट वस्तु के प्रतिपादन को नहीं रोका जा सकता है (वाक्य को कौन कहे। क्योंकि वाक्यों में) जो पद का भेद होता है वह अर्थ के ही भेद के कारण हुआ करता है। (आकांक्षा, योग्यता एवं आसत्ति से युक्त) पदों के संघात (समुदाय) स्वरूप वाक्य के तो अनेक संबन्धों (विशेषों) से युक्त वस्तु का वाचक होने के कारण, निर्विशेप वस्तु के प्रतिपादन में सामर्थ्य न होने के कारण निर्विशेप वस्तु में शब्द प्रमाण नहीं बन सकता है।

टिप्पणी

पदवाक्य रूपेण प्रवृतेः—अद्वैती विद्वानों को यह अभिमत है

कि शब्द प्रमाण के द्वारा ही निर्विशेष वस्तु की सिद्धि होती है। सिद्धान्ती का इस विषय में कहना है कि शब्द प्रमाण खासकर ऐसा प्रमाण है कि उसके द्वारा सविशेष ही वस्तु की सिद्धि हो सकती है, निर्विशेष वस्तु की नहीं। क्यों कि शब्द प्रमाण दो प्रकार से किसी वस्तु में प्रमाण भाव को प्राप्त करता है। (१) पद रूप से और (२) वाक्य रूप से। पद में दो भाग अवश्य होते हैं। प्रकृति भाग और प्रत्यय भाग। इनमें प्रकृति का भी कुछ अर्थ होता है, और प्रत्यय का भी कुछ अर्थ होता है। ये अर्थ आपस में विशेषण विशेष्य भाव रूप संबन्ध से जुड़े रहते हैं। प्रत्ययार्थ विशिष्ट प्रकृत्यर्थ हुआ करता है। पदार्थ दोनों का समुदितार्थ हुआ करता है। इस तरह सिद्ध होता है कि पद सविशेष ही वस्तु का प्रतिपादन करता है। शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति का जो दूसरा रूप है वह वाक्य है। आकांक्षा योग्यता आसत्ति युक्त पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं—"वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।" वाक्य में अनेक पद इसलिए होते हैं कि उन सभी पदों के द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान हुआ करता है। अतएव वाक्य के द्वारा अनेक सम्बन्ध विशिष्ट वस्तु का अभिधान किये जाने के कारण वाक्य तो किसी भी हालत में निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

यहां पर यह शंका होती है कि निर्विशेष शब्द निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करता है कि नहीं? यदि करता है तो फिर सिद्धान्ती उसका निषेध क्यों करते हैं? यदि नहीं करता है तो फिर निषेध्यभूत निर्विशेष वस्तु की प्रतिपत्ति न होने पर भी उसका निषेध क्यों सिद्धान्ती

करते हैं । क्योंकि प्रतिपन्न (ज्ञात) वस्तु का ही निषेध किया जाता जाता है, अप्रतिपन्न का निषेध तो जलताड़नवत् व्यर्थ है । यदि यह कहें कि निर्विशेष शब्द से भी सविशेष ही वस्तु का प्रतिपादन होता है तो यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ यह होगा कि जो आप निर्विशेष का खण्डन करते हैं, उससे सविशेष ही खण्डित हो जायेगा । अतएव निर्विशेष शब्द के द्वारा निर्विशेष वस्तु की प्रतिपत्ति (ज्ञान) मानना चाहिये । तो इसका उत्तर यह है कि—ज्ञान दो तरह का होता है- १—प्रमा और २—भ्रम । निर्विशेष शब्द के द्वारा निर्विशेष वस्तु का भ्रम होता है, प्रमा (यथार्थ ज्ञान) नहीं । वस्तुतः निर्विशेष शब्द का अर्थ है कुछ विशेषों से रहित तथा कुछ विशेषों से सहित । जैसे किसी ने सुना कि अमुक ग्राम में आग लगी थी । वह व्यक्ति वहाँ पर पत्ता लगाने के लिये गया, किन्तु बात वह अफवाह रूप से ज्ञात हुई, उसके लौटने पर जब उसके गाँव के लोगों ने पूछा कि वहाँ क्या बात थी, तो वह कहता है कि निर्विशेष ही था। इसका मतलब यह हुआ कि उक्त ग्राम में आग नहीं लगी थी । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि उस गाँव में वहां के लोग, घर आदि भी नहीं थे । वे सभी विशेषताएँ तो पूर्ववत् थी हीं, आगमात्र नहीं लगी थी। इस तरह निर्विशेष का अर्थ है कुछ विशेषों से रहित । न कि सभी विशेषों से रहित । शास्त्रों में भी गन्ध आदि गुणों से युक्त तथा शान्तत्व, घोरत्व मूढ़त्व आदि कतिपय विशेषों से रहित पृथिवी आदि को 'अविशेपास्ततो हिते' कहा गया है ।

प्रत्यक्ष के द्वारा निर्विशेष वस्तु का ग्रहण सम्भव नहीं ।

मूल—प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पक सविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेष वस्तुनि प्रमाणभावः । सविकल्पकं जात्याद्यनेक-पदार्थविशिष्टविषयत्वादेव सविशेषविषयम् । निर्विकल्पकमपि सविशेष विषयमेव सविकल्पके स्वास्मिन्ननुभूतपदार्थ विशिष्टप्रतिसंधान हेतुत्वात् । निर्विकल्पकं नाम—केनाचिद्विविशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, न सर्वविशेषरहितस्य; तथाभूतस्य कदाचिदपिग्रहणादर्शनात्, अनुपपत्तेश्च । केनचिद्विशेषेणेद-मित्थमिति हि सर्वा प्रतीतिरूपजायते, त्रिकोणसास्नादि संस्थानविशेषेण विना कस्यचिदपिपदार्थस्य ग्रहणायोगात् । अतो निर्विकल्पकमेकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्; द्वितीयादि पिण्डग्रहण म् सविकल्पकमित्युच्यते । तत्र प्रथमपिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते, द्वितीयादिपिण्डग्रहणेष्वेवा-नुवृत्ति प्रतीतिः । प्रथमप्रतीत्यनुसंहितवस्तुसंस्थानरूप गोत्वादे रनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्वं द्वितीयादि पिण्डग्रहणावसेयम्—इति द्वितीयादिग्रहणस्य सविकल्पकत्वम् सास्नादिवस्तुसंस्थानरूप गोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथमपिण्डग्रहणे गृह्यत इति—प्रथमपिण्ड-ग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम्; न पुनः संस्थानरूपजात्यादेरग्रह-णात्, संस्थान रूप जात्यादेरप्यैन्द्रियकत्वाविशेषात् । संस्था-

नेनविना संस्थानिनः प्रतीत्यनुपपत्तेश्च प्रथमपिण्ड ग्रहणेऽपि ससंस्थानमेव वस्त्वित्थमिति गृह्यते। अतो द्वितीयादिपिण्ड ग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टता संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यते इति तेषु सविकल्पकत्वमेव। अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम्।

अनुवाद—(अद्वैती विद्वान यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं सविकल्पक और निर्विकल्प इनमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जो वस्तुओं का ज्ञान होता है, वह निर्विशेष ही ज्ञान होता है। क्योंकि निर्विकल्पक शब्द का अर्थ ही है कि 'निर्गतो विकल्पस्य (भेदस्यस्य) ग्रहणो यस्मात्' अतः इसमें वस्तु के नाम जाति आदि का ग्रहण न होकर केवल वस्तु के स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है इसी का खण्डन इस अनुच्छेद में किया जा रहा है) निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों में विभक्त प्रत्यक्ष कभी निर्विशेष वस्तु (को बतलाने) में प्रमाण-भाव को नहीं प्राप्त कर सकता है। जाति आदि अनेक पदार्थों से विशिष्ट वस्तु को अपना विषय बनाने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष सविशेष विषयों का ही ग्रहण करता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी विशेषण विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण करता है। क्योंकि वही अपने (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) में अनुभव किये गये जाति आदि पदार्थों से विशिष्ट वस्तु रूपी विषय के सविकल्पक प्रत्यक्ष में अनुसन्धान का कारण होता है। अतएव कुछ विशेषणों से रहित वस्तु का ग्रहण ही कहलाता है निर्विकल्पक प्रत्यक्ष,

सभी विशेषशेणों से रहित वस्तु का ग्रहण नहीं। क्योंकि कभी भी सभी विशेषणों से रहित वस्तु का ग्रहण नही देखा जाता है। (यदि यहाँ पर आप (अद्वैती विद्वान्) यह कहें कि हम एक ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कल्पना करते हैं जो सभी विशेषों से रहित वस्तु का ग्रहण करता है तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं) अनुपपतेश्च।) अर्थात् सर्व विशेष शून्य वस्तु के ग्रहण की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। क्योंकि सभी प्रतीतियाँ इदम् (यह) और इस प्रकार से, (इत्थम्) इन दो प्रकार के विशेषों से युक्त ही होती हैं। (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी; यह है और इस प्रकार की है ये दो विशेष अवश्य होते हैं) त्रिकोण (गौ का मुख आदि शरीर) और सास्ना (ललरी) आदि संस्थान (रूप) विशेष से रहित किसी भी पदार्थ (गौआदि) का ग्रहण ही नहीं हो सकता है। अतएव–एक जाति वाले द्रव्यों में से किसी एक वस्तु का सर्व प्रथम पिण्डग्रहण ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है; और द्वितीय आदि पिण्डों का ग्रहण कहलाता है; सविकल्पक प्रत्यक्ष। [अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि दोनों प्रत्यक्षों में पिण्डों का ही ग्रहण होता है तो फिर निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्तर ही क्या रह गया ? तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं] उन दोनों में [अन्तर यह है कि] प्रथम पिण्ड ग्रहण की वेला में गोत्व आदि आकार की अनुवृत्ति नहीं प्रतीत होती है; किन्तु द्वितीय आदि पिण्ड ग्रहणों में पूर्वानुभूत आकार की अनुवृत्ति की प्रतीति होती है। प्रथम प्रतीति में अनुसन्धान किये गये वस्तु के संस्थान रूप जो गोत्व आदि उनकी अनुवृत्ति रूप धर्म से युक्तता द्वितीय आदि पिण्डों

के ग्रहण में देखी जाती है। (जैसे प्रथम प्रत्यक्ष में जो हम अनुभव करते हैं कि यह गो है क्योंकि यह गोत्वावच्छिन्न है, फिर जब हम किसी दुसरी गो को देखते हैं; तो कहते हैं कि यह भी गो है, क्योंकि यह भी सास्ना आदि अङ्ग विशेष रूप गोत्व धर्म से युक्त है। इस तरह प्रथम गो के प्रत्यक्ष में जो गोत्व रूप सास्ना आदि का अनुभव किया गया, उस गोत्वानुभूति की अनुवृत्ति की प्रतीति द्वितीय आदि प्रत्यक्षों में हुआ करती है।) इस अनुवृत्ति के ही कारण द्वितीय आदि प्रत्यक्षों को सविकल्पक कहा जाता है । सास्ना आदि जो वस्तु गो के संस्थान (व्यावर्तक रूप विशेष) गोत्व आदि हैं उनकी अनुवृत्ति की प्रतीति प्रथम पिण्ड ग्रहण में नहीं होती है। अतएव प्रथम पिण्ड ग्रहण को निर्विकल्पक कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि जाति आदि का ग्रहण न होने के कारण उसको निर्विकल्पक कहा जाता हो। क्योंकि संस्थान रूप जो जाति आदि हैं वे भी उसी तरह इन्द्रिय ग्राह्य है (जिस तरह त्रिकोण आदि।) चूंकि संस्थान (रूप विशेष) के बिना अवयवी का ग्रहण ही नहीं हो सकता है, अतएव संस्थान से युक्त ही वस्तु यह इस प्रकार की है, इस तरह से प्रतीत होती है। इसीलिए द्वितीय आदि पिण्ड के ग्रहणों में गोत्व आदि की अनुवृत्ति रूप धर्म की विशिष्टता सदा उसी तरह बनी रहती है जिस तरह अवयवी और अवयव की—इसी लिए उन सभी (आदि) प्रत्यक्षों को सविकल्पक माना जाता है । अतएव प्रत्यक्ष कभी भी निर्विशेष वस्तु को अपना विषय नहीं बनाता है ।

॥ भेदाभेद का खण्डन ॥

मूल—अतएव सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम्; । इदमित्थ-

मिति प्रतीताविदमित्थं भावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते । तत्रेत्थंभावः—सास्नादिसंस्थानविशेषः तद्विशेष्यं—द्रव्यमिदमंश इत्यनयोरैक्यं प्रतीतिपराहतमेव । तथाहि प्रथममेव वस्तुप्रतीयमानं सकलेतरव्यावृत्तमेव प्रतीयते । व्यावृत्तिश्च गोत्वादि संस्थानविशेष विशिष्टतयेदमित्थमिति प्रतीते । सर्वत्र विशेषण विशेष्यभाव प्रतिपत्तौ तयोरत्यन्तभेदः प्रतीत्यैव सुव्यक्तः । तत्र दण्डकुण्डलादयः पृथक् संस्थानसंस्थिताः, स्वनिष्ठाश्च कदाचित् क्वचिद् द्रव्यान्तरविशेषणतयावतिष्ठन्ते, गोत्वादयस्तु द्रव्यसंस्थानतयैव पदार्थभूताः सन्तो द्रव्यविशेषणतयावस्थिताः, उभयत्र विशेषणविशेष्यभावः समानः । तत एव तयोर्भेदप्रतिपत्तिश्च । इयांस्तु विशेषः—पृथक् स्थिति प्रतिपत्तियोग्या दण्डादयः, गोत्वादयस्तु नियमेनतदनर्हा इति । अतो वस्तुविरोधः । प्रतीतिपराहतः इति प्रतीतिप्रकारनिह्नवादेवोच्यते । प्रतीति प्रकारो हि 'इदमित्थमित्येव सर्व सम्मतः । तदेदत् सूत्र कारेण 'नैकस्मिन्नसंभवात्' (ब्र० सू० २।२।३१) इति सुव्यक्तमुपपादितम् । अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादिदृष्टसंबन्धविशिष्टविषयत्वादनुमानमपि सविशेषविषयमेव । प्रमाणसंख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगतप्रमाणानामयमेव

विषय इति—न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषवस्तुसिद्धिः। वस्तुगतस्वभावविशेषैः तदेव वस्तु निर्विशेषम्—इति वदन् जननी वन्ध्यात्वप्रतिज्ञायामिव स्ववाग्विरोधित्वमपि न जानाति।

अनुवाद—(उपर्युक्त अनुच्छेद में प्रत्यक्ष के सविशेष विषय ग्राहकत्व का प्रतिपादन किया गया है, अब यहाँ पर प्रसंगतः प्राप्त भेदाभेदवाद का खण्डन किया जा रहा है। भेदाभेदवादी का यह कहना है कि पिण्डों में, जाति और व्यक्ति में, गुण एवं गुणी में, क्रिया एवं क्रियावान् में तथा कार्य एवं कारणों में भेद और अभेद दोनों की प्रतीति होती है। जैसे दो सजातीय पिण्डों में जात्यात्मना अभेद और व्यक्त्यात्मना भेद प्रतीत होता है। इसी का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं) प्रत्यक्ष के सविशेष विषयों का ग्राहक होने के ही कारण सर्वत्र (जाति व्यक्ति आदि में) भेदाभेद का भी खण्डन हो जाता है। 'यह' एवं 'इस प्रकार' इन दोनों तरह की प्रतीतियों के होते रहने पर 'यह' एवं 'ऐसा' इन दोनों भावों में एकता का ज्ञान कैसे कराया जा सकता है? (क्योंकि इदं भाव से विशेष्य तथा इत्थं भाव से विशेषण को बतलाया जाता है।) इन दोनों में इत्थं भाव (वस्तु ऐसी है इस तरह से वस्तु के) सास्ना आदि संस्थान (अङ्ग) विशेष को कहा जाता है और वह विशेष्य द्रव्य जो है वही इदमंश ('यह' 'यहं' शब्द से कहा जाता) है; इस तरह इन दोनों में एकता भेद की प्रतीति से ही खण्डित हो जाती है। (भेदाभेदवादी जाति एवं व्यक्ति के भेदाभेद के प्रतिपादनार्थ चार

हेतुओं को उपस्थित करते हैं। वे हैं—(१) सर्व प्रथम जब किसी पिण्ड विशेष का ग्रहण (साक्षात्कार होता है उस समय जाति और व्यक्ति में कोई भेद नहीं प्रतीत होता है अतएव उन दोनों में अभेद ही स्वीकार करना चाहिए। (२) एकशब्दानुविद्धप्रत्यय—अर्थात् जिस शब्द के द्वारा किसी व्यक्ति का ज्ञान होता है–उसी शब्द के द्वारा उसकी जाति का भी ज्ञान हो जाता है; अतएव दोनों जाति एवं व्यक्ति में भेदाभेद ही मानना चाहिए। (३) मत्वर्थीय प्रत्यय निरपेक्ष समानाधिकरण पद प्रयोग—अर्थात् जाति एवं व्यक्ति का ज्ञान कराने के लिए मत्वर्थीय प्रत्यय के विना ही समानाधिकरण पद का प्रयोग हुआ करता है; अतएव ज्ञात होता है कि जाति एवं व्यक्ति में अभेद है। [४]सहोप लम्भ का नियम-अर्थात् जहाँ कही भी जाति एवं व्यक्ति दोनों की उपलब्धि होती है; साथ साथ होती है। इस लिए दोनों में भेदाभेद की प्रतीति होती है। इन सबों का खण्डन करने के लिए सिद्धान्ती कहते हैं—तथाहीत्यादि जाति और व्यक्ति में भेद इस प्रकार है–जब सर्व प्रथम वस्तु की प्रतीति होती है, उसी समय वह स्वेतर समस्त व्यतिरिक्त रूप से प्रतीति होती है। और उसका जो स्वेतर समस्त वस्तुओं से भेद होता है वह—गोत्व आदि जो संस्थान (अङ्ग) विशेष हैं उनसे विशिष्ट (युक्त) होने के कारण (यह) और (ऐसा) इन दो प्रकार की प्रतीतियों के कारण होती है। (यहाँ पर यदि भेदाभेदवादी कहें कि वस्तु की गोत्वादि विशिष्ट रूप से प्रतीति तो हो किन्तु उनमें अभेद माना जाय तो ऐसा वे नहीं कह सकते हैं क्योंकि)–सर्वत्र– (जाति व्यक्ति आदि में) विशेषण विशेष्य का ज्ञान होने पर उन दोनों का अत्यन्त भेद प्रतीति के द्वारा स्पष्ट हो

जाता है। (अतएव विशेषण विशेष्यभाव की प्रतीति ही दोनों के अभेद का विरोधी है।) (यह विशेषण विशेष्य भाव दो तरह का होता है– [१] कुछ ऐसे विशेषण होते हैं जो पृथक् सिद्ध होते हैं, और कुछ ऐसे विशेषण होते हैं जो अपृथक् सिद्ध होते हैं। पृथक सिद्ध विशेषण वे हैं जिनकी सत्ता अपने विशेष्य से अलग हो जाने पर भी बनी रहती है, और अपृथक् सिद्ध विशेषण वे हैं जिनकी सत्ता अपनी विशेष्य से अलग नहीं होती है।) उनमें दण्ड–कुडल आदि पृथक् सिद्ध विशेषण हैं, क्योंकि कभी तो वे व्यक्ति के साथ स्वनिष्ठ रूप से रहते हैं तथा कभी तथा कहीं पर दूसरे द्रव्य के भी विशेषण बन जाते हैं, किन्तु गोत्व आदि तो द्रव्य के संस्थान रूप से ही पदार्थ होते हैं, और वे अपने (विशेष्य भूत) द्रव्य के ही विशेषण रूप से रहते हैं। दोनों (जाति एवं व्यक्ति दण्ड एवं दण्डी) स्थलों में विशेषण विशेष्य भाव समान रूप से विद्यमान हैं, अतएव उन दोनों [विशेष्य विशेषण] में भेद की प्रतीति होती है। किन्तु [इन दोनों प्रकार के विशेषणों में] यह भेद है कि दण्ड आदि [विशेषण.] अपने विशेष्य से अलग रह कर भी स्थिति और प्रवृत्ति के योग्य हैं, किन्तु गोत्व आदि तो नियमतः इसके अयोग्य हैं। अतएव जाति एवं व्यक्ति में भेद प्रतिपादन रूपी वस्तु का विरोध दोनों में होने वाली भेद प्रतीति के ही द्वारा खण्डित हो जाता है। अतएव [भेदाभेदवादी अपनी बातों को] प्रतीति के स्वरूप को छिपाकर ही कहते हैं। क्योंकि सभी विचारकों को यह सम्मत है कि किसी भी वस्तु की प्रतीति इदन्त्व एवं इत्थन्त्व इन दो प्रकारों से युक्त अवश्य होती है। इस बात का प्रतिपादन सूत्रकार ने 'नैकस्मिन्न

सम्भवा'त्' इस सूत्र में अच्छी तरह से किया है। चूंकि प्रत्यक्ष के द्वारा सविशेष विषय का ही ग्रहण होता है। अतएव प्रत्यक्ष आदि में देखे गये धूम आदि के संबन्ध से विशिष्ट अग्नि आदि को अपना विषय बनाने के कारण अनुमान भी सविशेष वस्तु को ही अपना विषय बनाता है। यद्यपि स्वीकार किये जाने वाले प्रमाणों की संख्या के विषय में दार्शनिकों का विवाद है फिर भी स्वीकृत किये जाने वाले सभी प्रमाणों का विषय सविशेष ही वस्तु होता है—अतएव किसी भी प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। वस्तु अपने स्वभाव विशेष के कारण निर्विशेष वस्तु सिद्ध होता है, यह कहने वाले [अद्वैती विद्वान्] जननी के वन्ध्यात्व प्रतिज्ञा में होने वाले विरोध के समान [अपने कथन में विद्यमान] वाणी के विरोध को भी नहीं समझ पाते हैं।

प्रत्यक्ष सन्मात्र का ही ग्राहक नहीं है

मूल—यत्तु प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेदविषयं, भेदश्च विकल्पासहत्वाद् दुर्निरूप इत्युक्तं तदपि जात्यादि विशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वात् जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनः स्वस्य च भेदव्यवहार हेतुत्वाच्च दूरोत्सारितम्। संवेदनवद्रूपादिवच्च परत्र व्यवहारविशेषहेतोः स्वस्मिन्नपि तद्व्यवहारहेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि संभवत्येव; अत एव

नानवस्था अन्योन्याश्रयणञ्च । एक क्षणवर्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेव क्षणे वस्तुभेदरूपतत्संस्थानरूपगोत्वादेर्गृहीतत्वात्क्षणान्तरग्राह्यं न किञ्चिदिह तिष्ठति ।

अनुवाद–(अद्वैती विद्वानों ने अपने महा पूर्वपक्ष में) यह जो कहा था कि प्रत्यक्ष सत्ता मात्र का ग्राहक है अतएव वह भेद का ग्राहक नहीं हो सकता है [इस तरह से भेद में प्रमाणानुपपत्ति दिखलाकर भेद में प्रमेयानुपपत्ति दिखलाते हुए उन लोगों ने कहा है कि] विकल्पासह होने के कारण भेद का निरूपण भी नहीं किया जा सकता है—यह उनका कथन खण्डित हो गया; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण जाति से विशिष्ट वस्तु को ही अपना विषय बनाता है और जाति आदि ही अपने तथा अपने विशेष्यभूत वस्तु सापेक्ष होने के कारण भेद व्यवहार के कारण बनते है। आप लोगों ने (महापूर्वपक्ष में) यह स्वीकार किया है कि संवेदन और रूपदि (अपने संबन्ध मात्र से) दूसरे वस्तुओं में चाक्षुष् आदि व्यवहार विशेष के कारण होते हैं, अतएव वे अपने व्यवहार विशेष के लिए स्वाधीन हैं; उसी तरह से भेद भी (अपने संबन्ध मात्र से स्वेतर समस्त वस्तुओं में भेद व्यवहार का हेतु होने के कारण अपने व्यवहार के विषय में स्वतंत्र ही है) अतएव (भेद के विषय में स्वपर निर्वाहक न्याय स्वीकार करने के ही कारण) भेद को स्वीकार करने पर (आप के द्वारा महापूर्वपक्ष में कहे गये) अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो सकते हैं। क्योंकि यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षण ही रहता है, फिर भी उसी क्षण

में वह वस्तु, उसका स्वेतर समस्त वस्तुओं से भेद, रूप, संस्थान स्वरूप गोत्व आदि सबों का ग्रहण कर लेता है अतएव क्षणान्तर में ग्रहण के लिए कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता है ।

सत्तामात्र का ग्राहक कोई साधन नहीं है ।

मूल—अपि च सन्मात्रग्राहित्वे 'घटोऽस्ति' 'इति विशिष्ट-विषया प्रतिपत्तिर्विरुध्यते । यदि च सन्मात्रातिरेकि वस्तु-संस्थानरूपजात्यादि लक्षणो भेदः प्रत्यक्षेण न गृहीतः किमि-त्यश्वार्थी—महिषदर्शने निवर्तते । सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्र मेव विषयश्चेत्; तत् तत् प्रतिपत्ति विषय सहचारिणः सर्वेशब्दाः एकैकप्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते । किंच—अश्वे हस्तिनि च संवेदनयोरेकविषयत्वेनोपरितनस्य गृहीतग्राहित्वात्, विशे-षाभावाच्च स्मृतिवैलक्षण्यं न स्यात् । प्रतिसंवेदनं विशेषाभ्यु-पगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थविषयत्वमेवाभ्युपगतं भवति, सर्वेषां संवेदनानामेकविषयतायामेकेनैव संवेदनेनाशेषग्रहणादन्धबधि-राद्यभावश्च प्रसज्येत । न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते; तस्य रूपरूपिरूपैकार्थसमवेतपदार्थग्राहित्वात् । नापित्वचा; स्पर्शवद् वस्तुविषयत्वात् । श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्रविषयाणि, किन्तु शब्दरसगन्धलक्षणविशेषविषयाण्येव । अतः सन्मात्रस्य ग्राहकं न किञ्चिदिह दृश्यते ।

अनुवाद—किञ्च यदि प्रत्यक्ष को सत्तामात्र का ग्राहक मान लिया जाय तो यह घट है, यह पट है; इत्यादि विशिष्ट वस्तु को अपना विषय बनाने वाली प्रतीति (ज्ञान) का विरोध होगा और यदि सत्ता मात्र से भिन्न वस्तु के संस्थान [अङ्ग] रूप जाति आदि स्वरूप भेद का ग्रहण नहीं होता है, तो फिर अश्व को चाहने वाला व्यक्ति महिष को पाकर क्यों नहीं [संतुष्ट होकर] लौट जाता है । किञ्च होने वाले सभी ज्ञानों का विषय यदि सत्ता मात्र ही है तो फिर विभिन्न ज्ञानों में सहकारी रूप से रहने वाले सभी शब्दों का प्रत्येक ज्ञान में स्मरण क्यों नहीं होता है ? [चूंकि नहीं होता है, इस लिए पता चलता है कि प्रत्येक प्रत्यक्षों का विषय भिन्न-भिन्न और सविशेष ही होता है ।] किञ्च घोड़े, और हाथी संबन्धी होने वाले ज्ञान का विषय एक है तो फिर प्रथम प्रत्यक्ष में गृहीत वस्तु का ही द्वितीय प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण किये जाने तथा दोनों प्रत्यक्षों में कोई भेद न होने के कारण दोनों के स्मरण में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होनी चाहिए । होने वाले प्रत्येक ज्ञानों में भेद को स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष को विशिष्ट वस्तु का ग्राहक मानना चाहिए । और सभी ज्ञानों का विषय एक मानने पर एक ज्ञान के द्वारा सभी ज्ञेय पदार्थों का ग्रहण हो जाने के कारण न तो कोई अन्धा माना जा सकता है और न कोई बहरा ही माना जा सकता है । [क्योंकि आंख से जब शब्दादि सभी विषयों का ग्रहण हो जायेगा तब किसी को बहरा कैसे कहा जायेगा ? बहरा तो उसको कहते हैं जो शब्द का ग्रहण नहीं कर पाता है, जब चक्षु से ही शब्द गृहीत हो गया तो फिर वह व्यक्ति बहरा कैसे ? और सन्मात्र का ग्रहण चक्षु के

द्वारा नहीं हो सकता है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तो रूप, रूपवान् और रूपैकार्थ समवेत पदार्थ का ग्राहक होती है। त्वचा के द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह स्पर्श युक्त योग्य वस्तु को ही अपना विषय बनाता है। इसी तरह श्रोत्र आदि भी इन्द्रियाँ सत्तामात्र को अपना विषय नहीं बनाती हैं, क्योंकि वे भी शब्द रस गन्ध रूप विशेषों से विशिष्ट वस्तु को ही अपना विषय बनाती हैं। अतएव सन्मात्र का ग्राहक कोई भी साधन नहीं है।

संस्थान ही जाति है तथा जाति ही भेद है।

मूल—निर्विशेष सन्मात्रस्य च प्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद्विषयागमस्य प्राप्तविषयत्वेनानुवादकत्वमेव स्यात्, सन्मात्रब्रह्मणः प्रमेयभावश्च। ततो जडत्वनाशित्वादयस्त्वयैवोक्ताः। अतो वस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणभेदविशिष्टविषयमेव प्रत्यक्षम्। संस्थानातिरेकिणोऽनेकेष्वेकाकार बुद्धिबोध्यस्यादर्शनात्; तावतैव गोत्वादिजातिव्यवहारोपपत्तेः, अतिरेकवादेपि संस्थानस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः। संस्थानं नाम—स्वासाधारणरूपम् इति यथावस्तु संस्थानमनुसंधेयम्। जातिग्रहणेनैव 'भिन्न' इति व्यवहारसंभवात् पदार्थान्तरादर्शनात्, अर्थान्तरवादिनाप्यभ्युपगतत्वाच्च गोत्वादिरेवभेदः।

अनुवाद—[उपर्युक्त अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि सत्ता मात्र का ग्राहक कोई साधन नहीं है, प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा सन्मात्र का ग्रहण मान लिया जाय तो अद्वैत सिद्धान्त में अनेक दोष होंगे ।]

सभी विशेषों से रहित सत्तामात्र का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण हो जाने पर, उस (सत्तामात्र) को अपना विषय बनाने वाले शब्द प्रमाण रूप वेद वाक्य अनुवादक मात्र ही होंगे, क्योंकि सन्मात्र पहले ही प्रत्यक्ष का विषय बन चुका है। किञ्च आप सन्मात्र को ही ब्रह्म मानते हैं, वह यदि प्रत्यक्ष का विषय बन गया तो फिर, उसी तरह उसमें जड़त्व नाशित्व आदि धर्म प्रमेयत्व प्रयुक्त होंगे जिस तरह से घट में, यह आपने ही महापूर्व पक्ष में कहा है । अतएव यही मानना उचित है कि वस्तु के संस्थान रूप जाति आदि भेद है उनसे विशिष्ट (युक्त) ही वस्तु को प्रत्यक्ष अपना विषय बनाता है। देखा जाता है कि संस्थान को छोड़कर दूसरा कोई नहीं है जो अनेक वस्तुओं में एकाकारता की प्रतीति कराये, और उस (संस्थान) से ही गोत्व आदि का (वस्तु) में व्यवहार होता है; संस्थान व्यतिरिक्त वस्तु को जाति मानने वालों के मत में भी संस्थान स्वीकार किया ही जाता है, अतएव संस्थान ही जाति है। वस्तु का अपना असाधारण रूप ही संस्थान कहलाता है । इस तरह से जिस वस्तु का जो स्वेतर संस्मरत व्यावर्तक रूप हो उसको ही उसका संस्थान मान लेना चाहिये । जाति के ग्रहण के द्वारा ही वस्तु का भिन्नत्व व्यवहार होता है, जाति को छोड़कर कोई दूसरा पदार्थ वस्तु

को स्वेतर समस्त वस्तु से भेदक नहीं दिख पड़ता है, और जाति व्यतिरिक्त वस्तु को वस्तु का स्वेतर वस्तु से भेदक मानने वालों के द्वारा भी जाति स्वीकार ही की जाती है, अतएव गोत्व आदि जाति को ही भेद मानना चाहिये ।

टिप्पणी—

ततोऽइत्यादि—यहाँ पर यह अनुमान अभिप्रेत है "सन्मात्रं जड़म् विनाशि च, प्रमेयत्वात्, घटादिवत् ।" अर्थात्—सन्मात्र ब्रह्म जड़, एवं विनाशी है क्योंकि वह प्रमेय है, जो जो प्रमेय होता है वह-वह जड़ एवं विनाशी होता है जैसे घट आदि । इस तरह सन्मात्र को प्रत्यक्ष का विषय मानना अद्वैत सिद्धान्त में दोषावह होगा ।

अतोवस्तु संस्थान रूप जात्यादिलक्षणभेद—इस पंक्ति का आशय यह है कि वस्तु का जो संस्थान है वही जाति है; और जाति ही भेद है । संस्थान को जाति कहने का आशय यह है कि जाति उसे कहते हैं जो जिसकी अनेक पदार्थों में अनुगताकार प्रतीति होती हो । संस्थान एक ऐसा पदार्थ है जिसकी समान जातीय अनेक पदार्थों में अनुगताकार प्रतीति होती रहती है । जैसे गौ कि सास्ना एक ऐसा पदार्थ है जिसकी सभी गायों में अनुगताकार प्रतीति होती है । यह गो की सास्ना ही उसे महिष अश्व आदि से अलग करती है । अतएव उसे ही जाति मानना चाहिये । यह सास्ना प्रत्यक्ष का विषय है, और उस सास्ना रूप जाति के ही द्वारा गौ का महिष इत्यादि से भेद होता

है। अतएव यह मानना उचित है कि जाति ही भेद है और उससे विशिष्ट ही वस्तु का साक्षात्कार होता है। प्रश्न यह है कि जो संस्थान जाति कहलाता है, वह क्या है—क्योंकि दूसरे लोग तो अवयवी के असमवायी कारण को संस्थान मानते हैं, क्या आप उसे अवयवों के संयोग विशेष रूप से मानते हैं ? या वस्तु का स्वरूप मात्र मानते हैं ? अथवा इससे कुछ भिन्न ही मानते हैं ? संस्थान को अवयवों का संयोग विशेष तो इसलिए नहीं मान सकते हैं कि अवयव रहित आत्माओं की आत्मत्व जाति नहीं बन पायेगी दूसरे विकल्प को मानने पर—तीन दोष होंगे—१—प्रत्यक्ष का विषय सविशेष वस्तु नहीं होगा, २—जाति का अनुगत व्यवहार नहीं होगा। ३—सम्पूर्ण जाति का ही उच्छेद हो जायेगा। अतएव वस्तु के स्वरूप मात्र को भी संस्थान नहीं मान सकते हैं। तीसरे पक्ष में तो आप वस्तु के असमवायी कारण को ही संस्थान मान सकते हैं इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वस्तु के असाधारण रूप को ही संस्थान कहते हैं। रूप कहकर आपने यह बतलाया कि संस्थान वस्तु का अपृथक् सिद्ध विशेषण होता है। असाधारण कहकर संस्थान की विसजातीय में अतिव्याप्ति का वारण किया गया है।

मूल—ननु च—जात्यादिरेव भेदश्चेत् तस्मिन् गृहीते तद् व्यवहारवद् भेदव्यवहारोपि स्यात्-सत्यम्, भेदश्च व्यवहृयत एव; गोत्वादिव्यवहारात्। गोत्वादिरेव हि सकलेतर व्यावृत्तिः गोत्वादौ गृहीते सकलेतर सजातीय

बुद्धिव्यवहारयोर्निवृत्तेः । भेदग्रहणमेवह्यभेदनिवृत्तिः । "अयमस्माद् भिन्नः" इति तु व्यवहारे प्रतियोगिनिर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोग्यपेक्षया 'भिन्न इति व्यवहारः' इत्युक्तम् ।

अनुवाद—[उपर्युक्त अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि संस्थान ही जाति है और जाति ही भेद है इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि] यदि जाति आदि ही भेद हैं तो फिर प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण हो जाने पर जाति का जिस तरह से व्यवहार होता है, उसी तरह भेद का भी व्यवहार होना चाहिये; [फिर क्यों नहीं होता उसको अद्ध स्वीकार करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं] सत्यम् अर्थात् आपकी बात अद्धग्राह्य है ।] गोत्व आदि के व्यवहार के कारण भेद का व्यवहार तो होता ही है। क्योंकि गोत्व आदि ही स्वेतर समस्त वस्तुओं से भेद रूप हैं। गोत्व आदि का ग्रहण हो जाने पर स्वेतर समस्त वस्तुओं में सजातीयता के ज्ञान तथा व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है। जब स्वेतर समस्त वस्तुओं में भेद का ग्रहण हो जाता है तो उतने मात्र से ही अभेद की निवृत्ति हो जाती है। 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार के व्यवहार में तो प्रतियोगी के निर्देश की अपेक्षा होने के कारण प्रतियोगी की अपेक्षा भिन्न इस प्रकार का व्यवहार होता ही है।

टिप्पणी—

अद्वैती विद्वान् भेद को नहीं स्वीकार करते हैं अतएव महापूर्वपक्ष

में उन्होंने भेद का खण्डन किया था, और भेद की सत्ता में प्रमाणानुपपत्ति तथा प्रमेयानुपपत्ति उपस्थित की थी। उन दोनों अनुपपत्तियों का परिहार करके यहाँ सिद्ध किया गया कि भेद की सत्ता है। किसी वस्तु का जो स्वरूपनिरूपक धर्म होता है, उसे ही संस्थान अथवा जाति अथवा भेद कहते हैं, उस संस्थान के ग्रहण मात्र से भेद का ग्रहण हो जाता है, किन्तु किसी वस्तु का जो भेद व्यवहार होता है वह प्रतियोगी के निर्देश की अपेक्षा रखता है। जैसे घट का पट से भेद व्यवहार तब ही हो सकता है जब कि घट के प्रतियोगी भूत पट का भी स्मरण हो।

॥ समाप्त ॥



पुस्तक प्राप्ति स्थान

(१) हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति

कटरा मुहल्ला

अयोध्या, फैजाबाद

(उ० प्र०)

(२) जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी—

रामनारायणाचार्य

श्री कोशलेश सदन, कटरा

अयोध्या-फैजाबाद

(उ० प्र०)

श्री कृष्ण प्रिंटिंग प्रेस, फैजाबाद ।